तेरापंथ

युवाचार्य महाप्रज्ञ

जैन विश्व भारती प्रकाशन

प्रज्ञापर्व प्रवचनमाला-६

संदर्भ : योगक्षेम वर्ष

सान्निध्य एवं प्रेरणा
आचार्यश्री तुलसी

प्रवचनकार
युवाचार्य महाप्रज्ञ

मुख्य-संपादक
मुनि दुलहराज

सम्पादक
मुनि धनंजयकुमार

द्वितीय संस्करण : जून, १९९३

संकलन सौजन्य :
प्रज्ञापर्व समारोह समिति
अमृत वाणी, जैन विश्व भारती

मूल्य : बीस रुपये/प्रकाशक : जैन विश्व भारती, लाडनूं, नागौर (राज०)/ मुद्रक : मित्र परिषद् कलकत्ता के आर्थिक सौजन्य से स्थापित जैन विश्व भारती प्रेस, लाडनूं-३४१ ३०६ ।

TERAPANTH

Yuvacharya Mahaprajna

Rs. 20.00

आशीर्वचन

योगक्षेम वर्ष का अपूर्व अवसर। प्रज्ञा जागरण और व्यक्तित्व निर्माण का महान् लक्ष्य। लक्ष्य की पूर्ति के बहुआयामी साधन—प्रवचन, प्रशिक्षण और प्रयोग। प्रवचन के प्रत्येक विषय का पूर्व निर्धारण। अध्यात्म और विज्ञान को एक साथ समझने और जीने की अभीप्सा। समस्या एक ही थी—प्रशिक्षु व्यक्तियो के विभिन्न स्तर। एक ओर अध्यात्म तथा विज्ञान का क,ख, ग नही जानने वाले और दूसरी ओर अध्यात्म के गूढ़ रहस्यो के जिज्ञासु। दोनो प्रकार के श्रोताओ को उनकी क्षमता के अनुरूप लाभान्वित करना कठिन प्रतीत हो रहा था। चिन्तन यही आकर अटक रहा था कि उनको किस शैली मे कैसी सामग्री परोसी जाए ? नए तथ्यो को नई रोशनी में देखने की जितनी प्रासगिकता होती है, परम्परित मूल्यो की नए परिवेश मे प्रस्तुति उतनी ही आवश्यक है।

न्यायशास्त्र का अध्ययन करते समय 'देहली दीपक न्याय' और 'डमरूक मणि न्याय' के बारे मे पढा था। दहलीज पर रखा हुआ दीपक कक्ष के भीतर और बाहर को एक साथ आलोकित कर देता है। डमरू का एक ही मनका उसे दोनों ओर से बजा देता है। इसी प्रकार वक्तृत्व कला मे कुशल वाग्मी अपनी प्रवचनधाराओ से जनसाधारण और विद्वान्—दोनो को अभिष्णात कर सकते हैं, यदि उनमे पूरी ग्रहणशीलता हो।

योगक्षेम वर्ष की पहली उपलब्धि है—प्रवचन की ऐसी शैली का आविष्कार, जो न सरल है और न जटिल है, जिसमे उच्चस्तरीय ज्ञान की न्यूनता नही है और प्राथमिक ज्ञान का अभाव नही है, जो निश्चय का स्पर्श करने वाली है तो व्यवहार के शिखर को छूने वाली भी है। इस शैली को आविष्कृत या स्वीकृत करने का श्रेय है 'युवाचार्य महाप्रज्ञ' को।

योगक्षेम वर्ष की प्रवचनमाला उक्त वैशिष्ट्य से अनुप्राणित है। इसकी उपयोगिता योगक्षेम वर्ष के बाद भी रहेगी, इस बात को ध्यान मे रखकर प्रज्ञापर्व समारोह समिति ने महाप्रज्ञ के प्रवचनो को जनार्पित करने का संकल्प सजोया। 'तेरापंथ' उसका छठा पुष्प है।

जिन लोगों ने प्रवचन सुने हैं और जिन्होने नही सुने हैं, उन सबको

योगक्षेम यात्रा का यह पाथेय अनुशासन और मर्यादा के विकास की प्रेरणा देता रहेगा, ऐसा विश्वास है।

आचार्य तुलसी

९ फरवरी ९२
जैन विश्व भारती
लाडनूं (राज०)

प्रस्तुति

तेरापथ एक प्रयोग है—साधना का, अहं-विर्सजन और ममत्व-विर्सजन का। अहकार और ममकार—ये दोनो साधना की विकट बाधाएं हैं। आचार्य भिक्षु ने उन्हें देखा, अतर्दृष्टि से देखा और उनके निराकरण का उपाय सोचा। मत्र अवतरित हो गया। उस आधार पर एक नए तत्र की रचना हुई। नाम हुआ तेरापथ। मेरा कुछ भी नही, पूर्ण समर्पण है गुरु में। मेरा कोई शिष्य नही, उपकरण नही, मुझे मेरी चिन्ता नही। अपेक्षित सेवा की व्यवस्था आचार्य करेंगे। ममत्व विसर्जन का फलित हुआ कि एक व्यक्ति पूरे सघ का हो गया। वह सघ के लिए और सघ उसके लिए। आचार्य की आज्ञा से सचालित है पूरा जीवन। वे जैसे रखना चाहे, जहा रखना चाहे और जो उपयोग लेना चाहे, वही है गंतव्य और वही है कर्त्तव्य। इस अहकार-विसर्जन ने मूल्यो को बदला, मानदड बदल गए।

इस अध्यात्म की आधार-भित्ति पर प्रतिष्ठित तेरापथ ने आचार और विचार के क्षेत्र मे अपने चरण आगे बढाए। साधु-साध्वियो और श्रावक-श्राविकाओ की निष्ठा तथा आचार्यों के कुशल नेतृत्व ने विकास के नए-नए आयाम खोले। आचार्य भिक्षु ने अहिंसा के क्षेत्र में कुछ ऐसे सिद्धान्त प्रतिष्ठित किए, जिनका मूल्य शाश्वत की भित्ति पर अकित है। उसकी रश्मिया युगधारा के साथ प्रवाहित हैं। महात्मा गाधी ने साध्य-साधन की शुद्धि और हृदय-परिवर्तन के सिद्धात की जो प्राण-प्रतिष्ठा की, उसका पूर्वार्ध आचार्य भिक्षु की पुण्य लेखनी से लिखित हो चुका था।

मार्क्स ने जिस समाजवादी व्यवस्था की कल्पना की थी, उसका प्रयोग सीमित क्षेत्र मे ही सही, आचार्य भिक्षु कर चुके थे। शाश्वत सत्य का द्रष्टा केवल वर्तमान को ही नही देखता, भविष्य को भी देखता है। आचार्य भिक्षु ने उस भविष्य को रूपायित किया, जो आज का वर्तमान है। वर्तमान को आवश्यकता है अनुशासन की। अनुशासनहीनता की पीडा मे पीडित है आज का समाज। आज के युग को आवश्यकता है सार्वभौम धर्म की, जिसकी व्यवस्था आचार्य भिक्षु ने की थी, जिसका प्रयोग आचार्यश्री तुलसी अणुव्रत के रूप में कर रहे हैं।

आचार्य भिक्षु ने तेरापथ धर्मसघ के अस्तित्व को आधारशिला दी, जयाचार्य ने जिसे ऊचाइया दी, आचार्यश्री तुलसी जिसे गरिमामडित कर रहे हैं, वह तेरापन्थ पठनीय है, मननीय और अनुकरणीय है।

योगक्षेम वर्ष की प्रवचन शृंखला मे तेरापथ के विषय में जो कहा गया, वही सदृब्ध है इस पुस्तक मे। आचार्यवर के सान्निध्य एवं पाच सौ सभागियों की उत्सुकतापूर्ण शुश्रूषा ने प्रस्तुत पुस्तक को प्रौढ बनाने मे योग दिया है। पाठक को स्वय इसका अनुभव होगा।

मुनि दुलहराजजी प्रारम्भ से ही साहित्य संपादन के कार्य में लगे हुए हैं। वे इस कार्य मे दक्ष हैं। प्रस्तुत पुस्तक के सपादन में मुनि धनजयकुमार ने निष्ठापूर्ण श्रम किया है।

१ फरवरी ९२
जैन विश्व भारती
लाडनू (राज०)

युवाचार्य महाप्रज्ञ

सम्पादकीय

- संघे शक्तिः कलौ युगे
  यह स्वर आज अधिक मुखर है
  शक्ति का स्रोत है शासन—सगठन
  आज्ञा, मर्यादा और अनुशासन
  जो जुडा है सघीय अनुशासन से
  दूर है कलियुग उससे
  वह जीता है हर क्षण
  सतयुग का जीवन।

- तेरापथ
  सामूहिक साधना का प्रयोग
  जो सबका है, वह मेरा है
  जो मेरा है, वह सबका है
  इस पर दूसरे का अधिकार जितना है
  मेरा अधिकार उतना है,
  मैं हू सघ के लिए
  सघ है मेरे लिए।
  यह तादात्म्य की अनुभूत भाषा
  सघ की जीवन्त परिभाषा।

- आचार्य भिक्षु ने देखा आगम की आख से
  सत्य की ज्योति दबी थी राख से
  यथार्थ को दी प्रस्तुति
  घटित हुई धर्मक्रान्ति
  अभिनिष्क्रमण/भावदीक्षा का स्वीकरण
  हो गया तेरापथ का प्रवर्तन

- शुद्ध आचार और विचार का अभिक्रम
  क्षमा और वैराग्य का उपक्रम
  श्रद्धा, समर्पण और पराक्रम
  अनवरत साधना, सघर्ष और श्रम
  इन सबसे युक्त आचार्य भिक्षु का व्यक्तित्व

बना इस्पाती/अपराजेय
उनका कर्तृत्व 'तेरापंथ'
जन जन के लिए श्रद्धेय
चिन्तन-मथन से निकला नवनीत
सबके लिए ग्राह्य और उपादेय
आचार-विचार, मर्यादा और अनुशासनमय जीवन
बन गया मोक्षार्थी दुनिया का ध्येय ।

- 'तेरापथ' महाप्रज्ञ का अभिनव सृजन
लघु मे विराट् का स्पर्शन
नए परिवेश और नए संदर्भ में
तेरापथ की भाग्यलिपि का उद्घाटन
उन्नीसवी शताब्दी के चिन्तन का
बीसवी शताब्दी मे विश्लेषण ।

- महाप्रज्ञ की एक कृति है 'भेद मे छिपा अभेद'
प्रस्तुत पुस्तक का अन्वर्थ है अभेद मे छिपा भेद ।
जिसमें अनावृत है
आचार्य भिक्षु का मौलिक चिन्तन
विचार-दर्शन
तेरापन्थ का सविधान
मर्यादा और अनुशासन
व्यवस्था और सगठन
सभ्यता और सस्कृति
परम्परा और प्रकृति ।

- तेरापथ की गतिशीलता
शक्तिमत्ता और प्राणवत्ता
दीर्घजीविता और तेजस्विता
का रहस्य सूत्र है प्रस्तुत ग्रन्थ
इसका गभीर अध्ययन करना
अपने अस्तित्व और व्यक्तित्व को समझना है ।

९ फरवरी ९२ — **मुनि धनंजयकुमार**
वसत पचमी
जैन विश्व भारती
लाडनूं (राज०)

अनुक्रम

मर्यादा : आधार और उद्देश्य

जिन लोगो ने नदी और समुद्र दोनों को देखा है। वे जानते हैं—नदी पार करते समय या नदी के तट पर चलते समय कभी कभी आशंका हो जाती है कि नदी में बाढ न आ जाए, बाहर से आने वाले पानी का प्रवाह तेज न हो जाए, पर समुद्र के तट पर ऐसी आशका नही होती। एक आदमी नदी मे चला। नदी में पानी घुटने तक था। उसने सोचा—नदी पार जाऊगा। नदी के बीच मे पानी का तेज प्रवाह आया। वह अपने आप को सम्भाल नहीं सका और प्रवाह मे बह गया। प्रश्न हुआ—ऐसा क्यो होता है? उत्तर दिया गया—नदी का पानी अपना नही होता। वह कही बाहर से आता है, ऊपर से आता है। जो ऊपर से आता है, वह कब ज्यादा आ जाए और कब कम हो जाए? कब बाढ आ जाए और कब पानी सूख जाए? कोई पता नही चलता। समुद्र मे अथाह पानी है। जो व्यक्ति समुद्र के पास खडा है, उसे कोई खतरा नही होता। उसमे अचानक बाढ नही आती। समुद्र मे ज्वार आता है पर वह भी निश्चित समय पर ही आता है। प्रश्न हुआ—ऐसा क्यो होता है? उत्तर दिया गया—समुद्र का पानी अपना होता है। वह कही बाहर से नही आता। पानी उसके भीतर मे समाया हुआ है, उसका अपना है। इसलिए उसका नाम ही समुद्र बन गया। 'मुद्रया सहित समुद्र'—जो मर्यादा सहित है, उसका नाम है समुद्र। समुद्र मे सहज मर्यादा है। नदी की अपनी कोई मर्यादा नही होती। पहाडो पर जमा बर्फ ज्यादा पिघल जाए या कही ज्यादा वर्षा हो जाए तो नदी मे बाढ आ जाएगी, पानी का पूर आ जाएगा। समुद्र सहज मर्यादा मे मर्यादित होता है, वह आशका से मुक्त और खतरे से खाली होता है।

समुद्र है तेरापंथ

नदी सूत्र मे सघ की तुलना अनेक उपमाओ के साथ की गई है। उसमे एक है समुद्र। तेरापथ धर्मसघ एक समुद्र है। उसकी अपनी मर्यादा और अपनी सीमा है। वह मर्यादा के साथ चल रहा है, इसलिए वह शालीन है, व्यवस्थित है और उसमे सत्य का अर्जन हुआ है। छिछलेपन मे सत्य का अर्जन नही होता। जिसमे जितनी गहराई होती है उसमे उतना ही ज्यादा सत्य का अर्जन होता है। पानी की थाली मे कभी नौका नही तैरती, जहाज नही तैरता, वह समुद्र मे ही तैर सकता है। जहा गहराई नही है वहां तैरने

की बात सम्भव नहीं हो सकती।

मर्यादा से जुड़े कुछ प्रश्न

प्रश्न होता है—आचार्य भिक्षु ने मर्यादाओं का निर्माण क्यो किया ? मर्यादा का आधार क्या है ? उसका उद्देश्य क्या है ? मर्यादा क्यो बनाई गई ? साधु को मुक्त विहारी होना चाहिए। साधुपन अपने आपमे मर्यादा है फिर और मर्यादाएं क्यो ? पांच महाव्रत अपने आपमे मर्यादा है। मर्यादा पर मर्यादा—यह तर्कशास्त्र की भाषा में अनवस्था दोष है।

मुनिश्री चौथमलजी तेरापथ धर्मसघ के बहुत प्रतिष्ठित मुनि थे। उन्होंने एक मुनि से कहा—आजकल आधिया बहुत चलती हैं, इससे पुस्तक खराब हो जाएगी। इस पर एक कपडा और लपेट दो ताकि पुस्तक खराब न हो। साधु कोई नया नया था। उसने कहा— महाराज ! यह तो उचित नही है। यानी एक खोली को अच्छा रखने के लिए एक कपडा और लपेटो। वह कपडा खराब न हो जाए इसलिए एक कपडा और लपेटो। वह कपडा खराब न हो जाए इसलिए तीसरा कपडा और लपेटो। इससे तो अनवस्था दोष हो जाएगा।

मर्यादा . मूल आधार

क्या महाव्रत अपने आपमे मर्यादा नही है ? महाव्रत मे मर्यादा का विधान क्यो ? क्या इससे अनवस्था का दोष प्रस्तुत नही हो जाएगा ? यह 'टोपले पर टोपला' नही हो जाएगा ? यह प्रश्न होना स्वाभाविक है। पाच महाव्रत, पाच समितिया और तीन गुप्तिया—ये मर्यादा के मूल आधार हैं। इनका नाम है मुनि-जीवन। ये मुनि-जीवन के मूल आधार हैं और इन्ही के आधार पर मर्यादाओ का निर्माण किया जाता है। आचार्य भिक्षु ने देखा—आज महाव्रत भी हैं, समितिया और गुप्तिया भी हैं। उनका विधान है और जो साधु बनते हैं, वे उन्हे स्वीकारते भी हैं। इतना होने पर भी उनमे जो अनुशासन होना चाहिए, वह दिखाई नही दे रहा है। छोटी-छोटी बातो के लिए समस्याए पैदा हो रही हैं। बहुत बार ऐसा होता है—लोग बडी बात को तो स्वीकार कर लेते हैं किंतु छोटी बात मे उलझ जाते हैं। हाथी निकल जाता है, पूछ अटक जाती है।

महाव्रत और मर्यादा

आचार्यवर भरतपुर मे विराज रहे थे। आशुकवित्व का कार्यक्रम आयोजित था। आचार्यश्री ने कहा—कोई भी समस्या दी जा सकती है। एक विद्वान् ने समस्या दी—'मशकगलकरध्रे हस्तियूथ प्रविष्ट'—मच्छर के गले मे हाथियों का यूथ घुस गया।

कही-कही हाथी निकल जाता है, पूछ अटक जाती है और कही-कही

मच्छरों के गले में हाथियों का यूथ अटक जाता है। अनेक प्रकार की समस्याएं होती हैं। समस्या एक प्रकार की नही होती। महाव्रत को स्वीकार करने वाला यह सोचता है—मैंने अहिंसा को स्वीकार किया है, सत्यव्रत को स्वीकार किया है, अचौर्यव्रत को स्वीकार किया है, ब्रह्मचर्य का व्रत स्वीकार किया है और अपरिग्रह का व्रत स्वीकार किया है, पर एक आचार्य की आज्ञा मे चलू, यह तो कहीं महाव्रत मे है ही नही।

महाव्रत मे मुनि-जीवन का एक रूप आ जाता है। मुनि को कैसा होना चाहिए ? मुनि कौन होता है ? मुनि होने का अर्थ क्या है ? यह बात महाव्रत मे सहज समाविष्ट है। किन्तु जीवन की व्यवस्था कैसे चले ? एक मुनि कैसे जीवन यापन करे ? मुनि बनने के बाद व्यक्ति अकेला रहे या साथ मे रहे, अपनी मनमानी करे या किसी दूसरे की बात माने ? ये सारी बातें महाव्रतों मे नही आती इसीलिए व्यवस्था और मर्यादा का निर्माण किया जाता है। भगवान् महावीर ने स्वय अनेक व्यवस्थाओ का निर्माण किया था।

साधुपन और व्यवस्था

साधुपन अलग बात है और व्यवस्था अलग बात है। बहुत बार ऐसा होता है—व्यवस्था को भी मूल साधुपन मान लिया जाता है। साधुपन और व्यवस्था एक नही हैं। महाव्रत, समिति और गुप्ति की आराधना साधु जोवन है। साधु जीवन को सम्यक् चलाने के लिए साधुपन के साथ व्यवस्था जुडती है। समय-समय पर तीर्थंकरो ने अनेक व्यवस्थाए दी, प्राचीन आचार्यों ने भी अनेक व्यवस्थाए दी। अनेक व्यवस्थाए छेदसूत्रो मे गुम्फित हैं।

महावीर ने एक व्यवस्था दी—मुनि बडे शहर या राजधानी में एक वर्ष मे दो-तीन बार से ज्यादा न जाए। इसका कारण था—पुराने जमाने मे बहुत सारे लोग साधु के वेश में गुप्तचरी करते थे। महावीर बहुत दक्षता से काम करते थे। इतिहास इस बात का साक्षी है—बुद्ध ने व्यवस्था पर उतना ध्यान नही दिया जितना महावीर ने दिया। बुद्ध के शासन मे समस्या पैदा हो गई। बुद्ध का धर्मसघ थोडे समय के बाद ही लडखडाने लग गया। जैन शासन में व्यवस्था पर बहुत ज्यादा ध्यान दिया गया। आज भी तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो मानना होगा, जैन सघ के साधु-साध्विया बहुत अच्छे चल रहे हैं। जापान से समागत बौद्ध विद्वान् डॉ० नागासाकी ने कहा—हमारे यहा भिक्षुओ को भिक्षु के रूप मे मानना ही कठिन हो रहा है। हम कह नहीं सकते—बुद्ध के भिक्षु कैसे थे ? यहा जैन विश्व भारती मे भिक्षु-भिक्षुणियों को देखा तो मन मे एक कल्पना आई—शायद बुद्ध के भिक्षु भी ऐसे ही रहे होगे। वर्तमान बौद्ध भिक्षु बिलकुल मुक्त हैं। वे सिगरेट पीते हैं, बीडी पीते हैं और शराब भी पी लेते हैं। हमारे भिक्षुओ और गृहस्थो में भेद-रेखा खीचना

मुश्किल हो गया है।

मर्यादा का तिहरा

जैनाचार्यों ने व्यवस्था और मर्यादा पर बहुत सूक्ष्मता और कुशाग्रबुद्धि से ध्यान दिया। इसका परिणाम है—जैन-साधु-साध्विया आज भी अपनी अलग पहचान बनाए हुए हैं। लोग मानते हैं—जैन साधु का जैसा त्याग है वैसा आज किसी भी साधु का नही है। उसका कारण है मर्यादा। मर्यादा पर मर्यादा बनाना कोई बुरी बात नही है। सस्कृत का एक न्याय है—**'द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति'**—दो बार बाधा हुआ अच्छा बाधा हुआ हो जाता है। मुनि के लिए पहली मर्यादा है महाव्रत। छेदसूत्रो की मर्यादा दूसरी मर्यादा है और तीसरी मर्यादा है आचार्य भिक्षु की मर्यादा। तीन प्रकार की मर्यादाए हो गई —पहली है साधुत्व की मर्यादा, दूसरी है छेदसूत्रीय महावीरयुगीन या आगम-कालीन मर्यादा और तीसरी है तेरापथकालीन मर्यादा। एक तेरापथी मुनि के लिए तिहरी मर्यादा बन गई। त्रिकोटा होता है तो पूरी सुरक्षा हो जाती है। तीर्थंकर का समवशरण तिहरा बनाया जाता है, उसके तीन कोट होते हैं। जिसके तीन कोट होते हैं, वह बहुत सुरक्षित बन जाता है।

मर्यादा : तीन आधार

वर्धमान देशना की आरामशोभा चलती थी तो उसके साथ-साथ बगीचा भी चलता था। कही धूप न लग जाए। जहा आराम शोभा गई बगीचा भी साथ गया। तेरापथ के साधु-साध्विया चलती हैं तो मर्यादा के तीन परकोटे सदा उनके साथ चलते हैं। उनका सयम सदा उनसे सुरक्षित रहता है।

महाव्रत मूलव्रत है। यह मूल आधार है तेरापथ का। छेदसूत्र की मर्यादा, आगमकालीन मर्यादा उसका दूसरा आधार है। तीसरा आधार है—आचार्य भिक्षु की मर्यादा। आचार्य भिक्षु ने जो मर्यादाए बनाई, वे क्यो जरूरी थी ? यह एक प्रश्न है ?

मर्यादा क्यो ?

जब समस्या आती है तो उसका कोई समाधान खोजना होता है। आचार्य भिक्षु के सामने भी कई समस्याए थी। उस समय साधु-सस्था के आचार और व्यवहार मे कुछ कठिनाइया थी। शिष्यो को लेकर कठिनाइया पैदा हुई। आपस मे कलह बढ गया, सविभाग की बात नही रही, समानता की बात भी नही रही। ये सारी समस्याए उनके सामने आई। उन्होने सोचा, आज एक और नया परकोटा बनाने की जरूरत है, नई मर्यादाओ का निर्माण करने की जरूरत है। आचार्य भिक्षु ने आचार शुद्धि के लिए मर्यादाए बनाई। मर्यादा-निर्माण के पाच प्रमुख उद्देश्य रहे—

१. संविभाग ४. व्यवस्था
२. समभाव ५. कलहमुक्ति
३. परस्पर सौहार्द ।

संविभागः समभावः, सौहार्दं च परस्परम् ।
व्यवस्था कलहान्मुक्तिः मर्यादाचारशुद्धये ।।

समस्या असंविभाग की

आज सारे संसार की समस्या है असविभाग । कही सविभाग नही है । समाज की व्यवस्था मे संविभाग का कोई महत्त्व नही है । चाहे लोकतंत्रीय प्रणाली की व्यवस्था हो, चाहे राजतत्रीय प्रणाली की व्यवस्था हो और चाहे साम्यवादी प्रणाली की व्यवस्था हो, सविभाग की बात कही दिखाई नही दे रही है । पहले माना जाता था—साम्यवाद मे बिलकुल सविभागी प्रणाली है । आज यह मान्यता भी खडित होती चली जा रही है । सोवियत रूस जैसे देश मे, जहा साम्यवाद की प्रणाली का प्रचलन विषमता को मिटाने के लिए हुआ था, वहा आज २० प्रतिशत लोग गरीबी की रेखा से नीचे जीवन यापन कर रहे हैं । उन्हे न रहने को मकान उपलब्ध है और न खाने को रोटिया । जब साम्यवादी प्रणाली की यह स्थिति है तब दूसरी प्रणालियो मे सविभाग की बात सोचना अतिचिन्तन ही होगा ।

महत्त्वपूर्ण सूत्र

आचार्य भिक्षु ने सविभाग का महत्त्वपूर्ण सूत्र दिया । आगम का यह वाक्य उसका आधार था—असविभागी न हु तस्स मोक्खो—असविभागी को मोक्ष नही मिलता । सविभाग को जितना प्रायोगिक रूप आचार्य भिक्षु ने दिया, उतना किसी धर्मसघ मे उसे मिला या नही, यह अनुसधान का विषय है । आचार्य भिक्षु ने सविभाग की कडी व्यवस्था दी । उन्होने कहा—साधु साध्वियो मे सविभाग होगा । जहा भी असविभाग की बात हुई, सविभाग की मर्यादा का अतिक्रमण हुआ, वहा तत्काल अनुशासनात्मक कारवाई हुई । सविभाग की मर्यादा को भग करने वाले साधु को सघ से अलग कर दिया गया ।

संविभाग का अतिक्रमण : परिणाम

तेरापथ के इतिहास की प्रसिद्ध घटना है । एक दिन सतों को पीने का पानी कम उपलब्ध हुआ । व्यवस्था दी गई—पानी कम आया है, सब सन्त पानी नाप कर पीए । एक साधु आया और सीधा पानी पीने लगा । उससे कहा गया—व्यवस्था के अनुसार चलो, पानी नाप कर पीओ, ऐसे मत पीओ । उसने कहा—मुझे प्यास लगी है ।

मुनि ने कहा—प्यास का सवेदन तुम्हारा है तो दूसरो का भी है'

सकता है। मुनि यह कहते हुए पानी पीने लगा कि क्या होता है बिना नापे पानी पीने से। बात आचार्य तक पहुची। आचार्य ने साधु को बुलाकर कहा—व्यवस्था को स्वीकार नही करते हो और क्या होता है यह कहकर व्यवस्था की अवज्ञा करते हो, यह कहते हुए आचार्य ने उस मुनि को सघ से अलग कर दिया।

तेरापथ मे संविभाग का कडाई के साथ प्रयोग किया गया। एक रोटी आए तो चार व्यक्ति उसके चार टुकडे करके ही खा सकते हैं। आज यह स्थिति है—बिना सविभाग और बिना पाती के कोई कुछ लेना ही नही चाहता। रोटी का सविभाग, पानी का सविभाग, कपडे का सविभाग। बैठने और सोने के स्थान का भी संविभाग है। यह नही हो सकता—गर्मी का मौसम है, हवादार स्थान कम है तो दरवाजे के सामने एक साधु अकेला ही सो जाए और दूसरे मुनि भीतर सोए रहे।

सात्विकता का संस्कार

सविभाग का सस्कार सात्विकता का सस्कार है। आयुर्वेद मे मनुष्य को तीन वर्गों मे बाटा गया। साख्य दर्शन मे भी मनुष्य के तीन वर्ग किए जाते हैं। मनोविज्ञान मे मनुष्य को तीन वर्गों मे वर्गीकृत किया गया है—सात्विक, राजस और तामस। जो ज्यादा नीद लेते हैं, उन्हे तामस माना गया है। राजस का लक्षण है अहकार और सात्विक आदमी का लक्षण है सविभागरुचिता। तामस सबसे नीचा माना जाता है। राजस उससे थोडा अच्छा समझा जाता है और सविभागी बिलकुल शुद्ध आदमी माना जाता है। सविभागी आदमी का लक्षण है—बाट-बाटकर खाने मे रुचि रखना, अकेले खाने मे रुचि न होना, अपनी रोटी सेकने मे ही रुचि न होना। 'मैं पीया मेरा बैल पीया अब चाहे कुआ ढह पडे'—इस वृत्ति के लोग तामसिक वृत्ति के लोग होते हैं। सात्विक प्रकृति का व्यक्ति अपनी बात के साथ-साथ दूसरो की बात भी सोचेगा। सात्विक प्रकृति वाला व्यक्ति जैसे अपनी पीड़ा का अनुभव करता है वैसे ही वह दूसरे की पीडा का अनुभव करता है। यह अनुभूति, सवेदनशीलता का सूत्र इतना बढ जाए, उसे सामने वाला दूसरा प्रतीत ही न हो, अद्वैत बन जाए तो सविभाग का सूत्र सार्थक बन सकता है।

सोलह आना समाजवाद

मर्यादा का एक उद्देश्य बतलाया गया—सविभाग। संविभाग रहे, कही विसविभाग न रहे। यह सहअस्तित्व का सूत्र आचार्य भिक्षु ने दिया। जयाचार्य ने इस सूत्र को विस्तार दिया। तेरापथ धर्मसघ में संविभाग का जो महत्त्व रहा है, यदि वह समाज मे सक्रात हो जाए तो समाज की स्थिति बदल जाए। जयप्रकाशनारायण जयपुर में पहली बार आचार्यवर से मिले।

उन्होंने तेरापंथ की मर्यादा और व्यवस्था के बारे में जानकारी प्राप्त की। उन्होने कहा—आचार्यजी ! आपके साधु-सघ में तो सवा सोलह आना समाजवाद है। यह आपके श्रावक समाज में भी आना चाहिए। जयप्रकाशजी ने मार्मिक शब्दो मे कहा—आचार्यश्री ! अगर आपका अनुयायी समाज इस संविभाग को थोडा भी अपनाए तो शायद वह आज दुनिया के लिए एक उदाहरण बन सकता है।

केवल नाम ही न जपें

एक भाई ने असम की वर्तमान स्थिति सुनाई। उसने कहा—अभी असम मे काफी अडगे चल रहे है। कुछ दिन पूर्व असम बन्द के दौरान एक बस को जला दिया गया। उसी बस मे एक तेरापंथी श्रावक था। उसके थोडी-सी खरोच जैसी आई, वह पूरा बच गया। उससे पूछा गया—तुम कैसे बच गए ? उसने कहा—जब आग लगी तब मैं 'भिक्षु स्वाम, भिक्षु स्वाम' के जप मे मग्न हो गया। इतने मे ही एक व्यक्ति आया। उसने कहा—तुम कोई चिन्ता मत करो। उसने कुछ ही क्षण बाद मुझे धक्का देकर बस से बाहर ढकेल दिया।

जब समस्या आती है तब लोग आचार्य भिक्षु का नाम बहुत जपते हैं, सिरियारी भी जाते हैं पर भिक्षु स्वामी ने जो बात कही थी, उसे मानने का जब प्रसग आता है तब वे पीछे हट जाते है। यदि आचार्य भिक्षु के सूत्रो को तेरापथ समाज व्यवहार मे लाए तो वह सारी दुनिया मे एक उदाहरणीय समाज बन सकता है। योगक्षेम वर्ष मे श्रावको के लिए एक जीवन शैली का निर्माण किया गया है। अगर उसको जीने वाले पचास परिवार भी मिल जाए तो उन्हे एक मॉडल के रूप मे प्रस्तुत किया जा सकता है। समस्या यह है—कोई भी व्यक्ति सविभाग को स्वीकार करने की तैयारी मे नही है। इस स्थिति मे जैन जीवनशैली का प्रारूप सार्थक कब होगा ? कहा नही जा सकता। अगर ऐसा हो जाए तो एक ऐसी जीवनशैली, जिसे राजनीति के लोग नही ला सके, धर्म के माध्यम से उद्भूत हो जाए।

समानता की अनुभूति

मर्यादा का दूसरा उद्देश्य है—समता। समानता की अनुभूति जागे, असमानता की अनुभूति न रहे। आचार्य पट्ट पर बैठता है, एक अग्रणी पट्ट पर बैठता है, सहवर्ती नीचे बैठते हैं, यह विषमता नही है। यह शिष्ट समाज का लक्षण है। शिष्ट समाज अपने गुरुजनो को सम्मान देता है, उनका आदर करता है। यह समता और विषमता का प्रश्न नहीं है। लोकसभा का अध्यक्ष लोकसभा में बैठा हुआ है और प्रधानमंत्री को अपनी सीट पर जाना है तो उसे झुक कर जाना होगा। यह संसदीय शिष्टता है। लोकसभा अध्यक्ष का

एक सम्मान होता है। लोकसभा की व्यवस्था होती है—कौन सासद या मत्री कहा बैठेगा और किस प्रकार की व्यवस्था रहेगी ? कौन मुनि ऊपर बैठे, कौन नीचे बैठे—यह एक अलग आचार-सहिता का प्रश्न है। इसका अर्थ समता और विषमता नही है।

तेरापथ धर्मसघ मे समानता को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। एक छोटा साधु लोच कराएगा तो आचार्य भी लोच कराएगा। एक छोटा साधु पैदल चलता है तो आचार्य को भी पैदल चलना है। बाल साधु को मर्यादा का पालन करना है तो आचार्य को भी मर्यादा मे जीना है। मर्यादा मे कोई अतर नही है। मर्यादा सबके लिए समान हैं।

पारस्परिक सौहार्द

मर्यादा का तीसरा उद्देश्य है—पारस्परिक सौहार्द। आचार्य भिक्षु ने अपनी अन्तिम शिक्षा मे कहा—साधुओ ! परस्पर मे विशेष हेत रखना। यदि परस्पर हेत नही रहता है तो सघ मे सौहार्द का भाव कमजोर बनता है।

व्यवस्था

मर्यादा का चौथा उद्देश्य है—व्यवस्था। व्यवस्था से अव्यवस्था को जन्म नही मिलता। जब तक प्रेम होता है, व्यवस्था आवश्यक नही लगती, किन्तु जब प्रेम टूटता है तब अव्यवस्था व्यक्ति को दु खी एव अशात बना देती है। जहा व्यवस्था नही होती वहा प्रेम टूटने की आशका अधिक होती है। मर्यादा के लिए व्यवस्था बनाए रखना बहुत जरूरी है।

कलह-निवारण

मर्यादा का पाचवा उद्देश्य है—कलह-निवारण। आचार्य भिक्षु ने कहा—परस्पर कलह न किया जाए। मुनि छद्मस्थ होता है। यदि कदाचित् कलह हो जाए तो उसका निवारण कर दिया जाए।

स्वतःचालित तत्र है तेरापथ

सविभाग, समभाव, सौहार्द, व्यवस्था और कलह-मुक्ति—इन पाच उद्देश्यो के लिए आचार्य भिक्षु ने मर्यादाओ का निर्माण किया। इन उद्देश्यों के साथ चलने वाली मर्यादा ने तेरापंथ धर्मसघ को शालीन और सुसंस्कृत बनाया है। योगक्षेम वर्ष मे ३५० साधु-साध्विया एक साथ रहे। यदि १०० आदमियो की बारात १० दिन भी रह जाए तो क्या स्थिति बन जाए ? किन्तु सैकडो साधु-साध्विया किसी के लिए सिरदर्द नही हैं। सब अपना अपना काम करते, न किसी को कुछ कहना पडता और न किसी को कुछ उलाहना देना पडता। सारे साधु-साध्विया सस्कारी बने हुए हैं, व्यवस्था से व्यवस्थित और अनुशासित बने हुए हैं। योगक्षेम वर्ष का सारा कार्य स्वत चलता रहा, मानो

ऑटोनामिक नर्वस सिस्टम काम करता रहा है। शरीर की कुछ क्रियाएं अपने आप होती हैं, उन्हें करने की जरूरत नही होती। इच्छाचालित क्रिया के लिए सोचना पडता है, स्वत.चालित के लिए सोचना नही पडता। ऐसा मानना चाहिए—तेरापथ धर्मसघ इच्छाचालित तन्त्र को पारकर स्वत चालित नाडी-तंत्र बन गया है। वह अपने आप चल रहा है। दो सौ वर्ष के सघन प्रयत्न से इस स्थिति का निर्माण सभव हुआ है।

घटना मेहसाणा की

आचार्यवर अहमदाबाद की यात्रा के दौरान मेहसाणा पधारे। वहा मूर्ति-पूजक समाज के आचार्य अभयसागरजी आचार्यश्री से मिले, वार्तालाप हुआ। वार्तालाप के मध्य उन्होने पूछा—आचार्यजी ! आपको नीद तो आ जाती है ?

यह प्रश्न आचार्यश्री को बडा अजीब सा लगा। आचार्यश्री ने कहा—हा, मुझे बहुत अच्छी नीद आती है।

थोडी देर बाद वही प्रश्न पूछा—आचार्यश्री ! आपको नीद तो आ जाती है !

आचार्यश्री ने कहा—क्या बात है ? यह बात आप क्यो पूछ रहे हैं ?

उन्होने कहा - आपके शिष्य कितने हैं ?

आचार्यश्री ने कहा—हमारे सघ मे सात सौ से अधिक साधु-साध्विया हैं।

वे फिर बोले—आपको नीद आ जाती है ?

आचार्यश्री ने कहा—हा।

बातचीत हुई और चले गए। आचार्यश्री का दूसरे दिन विहार होना था। वे दूसरे दिन प्रात' ही आ गए। थोडी देर बातचीत के बाद उन्होने पूछा—आचार्यजी ! आपको नीद आ जाती है या नही ?

आचार्यश्री ने कहा—आपको क्या हो गया है ? आप बार-बार यह प्रश्न क्यो पूछते है ?

उन्होने कहा मेरे पाच-सात ही शिष्य है और वे ही मेरी नीद हराम कर देते हैं। मैं यह सोच भी नही सकता—एक आचार्य के सात सौ से अधिक शिष्य हो और उस आचार्य की नीद हराम न हो।

आचार्यश्री ने कहा—नीद आती है और वह भी अच्छी नीद आती है। हमारे पूर्ववर्ती आचार्य बडे दूरदर्शी हुए है। वे ऐसी मर्यादाए—रेखाए खीच गए हैं, जिससे मुझे सघ चलाने के लिए कोई विशेष प्रयत्न करना नही पडता। सारा कार्य अपने आप ही चल रहा है। केवल थोडा-सा अंकुश हाथ मे रखने की जरूरत है। यह सारा मर्यादाओ के कारण हुआ है।

सौन्दर्य और विकास का हेतु

तेरापथ के सौन्दर्य और विकास का सबसे बड़ा कारण है—मर्यादा। अगर तेरापंथ धर्मसंघ मर्यादित नही होता, उसमे एक आचार्य का नेतृत्व नही होता तो तेरापथ इतना विकास नही कर पाता। मर्यादा एक ऐसा कवच है, जो तेरापथ को सदा सुरक्षित बनाए रखता है। इन मर्यादाओं की उपेक्षा करना, इनमे लापरवाही बरतना तेरापथ की शालीनता और विकासशील परम्परा को ठेस पहुचाना है। अपेक्षित है—तेरापथ का प्रत्येक सदस्य अनुशासन के साथ अपनी मर्यादाओ की गरिमा का अनुभव करे और अपने महान् आचार्यों के प्रति कृतज्ञता का भाव प्रदर्शित करे कि उन्होने अपनी दूरदर्शिता के कारण ऐसा शालीन सघ दिया, जिसमे जीने वाला प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको सौभाग्यशाली अनुभव कर रहा है।

तेरापंथ की मौलिक मर्यादाएं

प्रश्न समानता और व्यवस्था का

आचारांग का एक सूक्त है—णो हीणे णो अइरित्ते—सब आत्माए समान हैं। न कोई हीन है और न कोई अतिरिक्त। हम महावीर के इस वचन को मान कर चलते हैं। इस स्थिति मे व्यवस्था की बात प्राप्त नही होती। जब कोई हीन नही है और कोई अतिरिक्त नही है तो व्यवस्था कौन करेगा ? व्यवस्था किसलिए करेगा ? व्यवस्था क्यो करेगा ? व्यवस्था का प्रश्न ही नही उठता। एक ओर महावीर ने यह उपदेश दिया, दूसरी ओर उन्होंने अनेक व्यवस्थाए भी की। उत्तरवर्ती आचार्यों ने भी अनेक व्यवस्थाए दी और तेरापंथ के आद्य प्रवर्तक आचार्य भिक्षु ने भी बहुत व्यवस्थाएं निर्मित की। एक ओर समानता का प्रश्न, दूसरी ओर व्यवस्था का प्रश्न—इन दोनों मे विरोधाभास जैसा प्रतीत होता है। अनेकात के संदर्भ में इस विरोधाभास का समाधान उपलब्ध हो सकता है।

सन्मतितर्क प्रकरण ग्रन्थ मे कहा गया—प्रत्येक वचन नय-सापेक्ष है। हम यह देखे—अमुक वचन किस नय की अपेक्षा से कहा गया है ? निश्चय नय की अपेक्षा से कहा गया है या व्यवहार नय की अपेक्षा से ? हम उस वचन का हृदय समझे। यदि हम उसका हृदय नही पकडेंगे, अपेक्षादृष्टि को नही समझेगे तो हमारा दृष्टिकोण मिथ्या बन जाएगा।

निश्चय नय : व्यवहार नय

निश्चय नय का दृष्टिकोण है—सब जीव समान हैं। व्यवहार नय का दृष्टिकोण है—सब समान नही हैं, कोई हीन है और कोई अतिरिक्त। 'सब समान हैं'—यह वचन व्यवहार नय के सदर्भ मे बिल्कुल उलट जाता है। एक पचेन्द्रिय प्राणी है और एक एकेन्द्रिय—निगोदकायिक जीव है। दोनो समान कैसे हो सकते हैं ? एक ओर सजीव मूली-गाजर रखी हुई है दूसरी ओर एक बुद्धिमान् मनुष्य बैठा है। यदि हम यह कहें—मूली-गाजर का जीव और मनुष्य—दोनो समान हैं तो उसे व्यक्ति अपना मजाक समझेगा। मनुष्य को किसी व्यक्ति की सेवा लेना अपेक्षित है। इस स्थिति मे क्या यह कहा जा सकता है—नौकर की क्या जरूरत है ? ये मूली-गाजर पडे हैं, इनसे सेवा ले लो ? यदि सब समान है तो मूली-गाजर का जीव सेवा क्यों नही दे सकता ? जो काम एक समझदार आदमी कर सकता है, वह काम न मूली-गाजर से

हो सकता है, न घोडे और गधे से हो सकता है। इन सबको समान कैसे माना जा सकता है ? अनेकातदृष्टि से ही इस प्रश्न को समाहित किया जा सकता है—निश्चय नय की दृष्टि मे सब आत्माए समान है किन्तु व्यवहार नय की दृष्टि से कोई हीन है और कोई अतिरिक्त।

न हीनो नो विशिष्टोस्ति, निश्चयप्रतिपादनम्।
हीन स्यादतिरिक्तोऽपि, व्यवहारनयाश्रितौ ॥

व्यवस्था का आधार

निश्चयनय की दृष्टि से सब साधु-साध्विया समान हैं। व्यवहार नय की दृष्टि से एक आचार्य है और एक सामान्य साधु है। एक नेतृत्व करनेवाले हैं और एक नेतृत्व को मानने वाला है। एक अनुशास्ता है और एक अनुशासन का पालन करने वाला है। यह व्यवहारनय ही सारी व्यवस्थाओ का आधार है कभी-कभी व्यवहारनय मे निश्चयनय का आरोपण कर दिया जाता है। कहा जाता है—यह भेदभाव क्यो ? दो व्यक्तियो के साथ समान व्यवहार क्यो नही ? यह सचाई विस्मृत हो जाती है—व्यवहार मे भेदभाव का होना सहज सभव है। जहा निश्चय की स्थिति है वहा यह भेद का प्रश्न ही नही उठता। यह प्रश्न होता है व्यवहार जगत् मे। जहा व्यवहार से जीवन यात्रा को चलाना है वहा व्यवस्था का होना अनिवार्य है। जहा व्यवस्था की अनिवार्यता है वहा नेता का होना अनिवार्य है। कोई भी व्यवस्था नेतृत्व के बिना चल नही सकती।

मर्यादा : दो प्रकार

नेतृत्व का प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण है। आचार्य भिक्षु ने नेतृत्व को बहुत महत्त्व दिया। उन्होने बहुत सारी मर्यादाए बनाईं। उन मर्यादाओ को दो भागो मे बाटा जा सकता है—मौलिक मर्यादा और उन मर्यादाओ से उपजी हुई मर्यादा। आचार्य भिक्षु ने जो मर्यादाए दी, उनमे पाच मौलिक मर्यादाए हैं। वे तेरापथ धर्मसघ की आधारभूत मर्यादाए है। उनके आधार पर तेरापन्थ धर्मसघ चल रहा है, उनका सगठन और व्यवस्थाए व्यवस्थित बनी हुई हैं। तेरापथ की तेजस्विता, यशस्विता और शक्तिमत्ता का रहस्य उन मर्यादाओ मे छिपा हुआ है। उन मर्यादाओ के अभाव मे कोई भी सगठन शक्तिशाली नही बन सकता, तेजस्वी और यशस्वी नही बन सकता।

सवैधानिक दस्तावेज

आचार्य भिक्षु ने तत्कालीन साधु-समाज की स्थिति के सदर्भ मे अनुभव किया—मर्यादा के बिना साधु-समाज के स्वास्थ्य को सुरक्षित नही रखा जा सकता। इस अनुभव के आलोक मे आचार्य भिक्षु ने सवत् १८३२ मे तेरापथ धर्मसंघ का पहला सविधान लिखा। शिष्य मुनि भारमलजी को अपना

उत्तराधिकारी नियुक्त किया। इसके साथ ही एक नेतृत्व की परपरा का सूत्रपात हो गया। आचार्य भिक्षु ने उस मर्यादापत्र मे समय-समय पर अनेक सशोधन और परिष्कार किए। सन् १८५९ मे अतिम सविधान-पत्र लिखा। वह लिखत (मर्यादा-पत्र) आज भी तेरापथ धर्मसघ का आधारभूत सवैधानिक दस्तावेज बना हुआ है।

एक आचार्य : एक नेतृत्व

तेरापथ धर्मशासन की पहली मौलिक मर्यादा है—'साधु-साध्विया एक आचार्य के नेतृत्व मे रहे।' नेतृत्व का प्रश्न सबसे ज्यादा जटिल होता है। आचार्य भिक्षु की इस मर्यादा ने नेतृत्व की समस्या को समाहित कर दिया। साधु-साध्विया वीतराग नही हैं। उनमे राग और द्वेष विद्यमान हैं। कोई भी राग और द्वेष से मुक्त नही है। जहा राग और द्वेष है, वहा व्यवस्था के बिना समाज को शासित नही किया जा सकता। जहा नेतृत्व नही होता है और राग-द्वेष प्रबल होता है वहा कलह, इर्ष्या आदि अनेक मानवीय दुर्बलताए व्यक्ति को उन्मार्ग पर ढकेल देती हैं। जहा नेतृत्व सक्षम होता है वहा व्यक्ति उन्मार्ग पर जा नही सकता। कुशल अनुशास्ता उन्मार्ग की ओर प्रस्थित व्यक्ति को भी सन्मार्ग मे प्रस्थापित कर देता है। इस अवीतराग लोक मे वीतराग प्रकल्पित नेतृत्व की अक्षत व्यवस्था आचार्य भिक्षु ने की।

अवीतराग लोकेस्मिन्, वीतराग प्रकल्पिता।
नेतृत्वस्य व्यवस्थेयं, विहिता भिक्षुणाक्षता ॥

नई परम्परा का प्रणयन

आचार्य भिक्षुकृत यह मौलिक मर्यादा एक नई परम्परा का प्रणयन है। भगवान् महावीर के समय मे भी यह परम्परा नही थी। यह कोई जरूरी नही था कि सब साधु साध्विया एक ही आचार्य की आज्ञा मे रहे। अलग-अलग व्यवस्थाए थी। महावीर के समय मे नौ गण थे और ग्यारह गणधर। ऐसा नियम नही था—सुधर्मा के शिष्य को कोई कार्य करना है तो वह गौतम की अनुमति ले। वह गौतम का शिष्य बने, यह भी जरूरी नही था। सुधर्मा को किसी व्यक्ति को दीक्षा देना है। वह इसके लिए गौतम की आज्ञा ले, यह आवश्यक नही था। सुधर्मा के अपने शिष्य थे, गौतम के अपने शिष्य थे। सब गणधरो के अपने-अपने शिष्य थे। महावीर के चौदह हजार शिष्य थे। यह कहा नही जा सकता—महावीर का सब शिष्यो से सीधा सपर्क था। ऐसा होना सभव भी नही था। सारी व्यवस्थाए स्वतत्र थी। अनेक गण, अनेक गणधर और एक एक गण मे अनेक अनेक आचार्य। अलग-अलग शिष्य और अलग-अलग शिष्य-परम्परा। उस समय बिलकुल दूसरे प्रकार की व्यवस्थाए थी।

साधु-समाज की तत्कालीन स्थिति

आचार्य भिक्षु ने मर्यादा के क्षेत्र में एक नई परम्परा का सूत्रपात किया। इसके पीछे अनेक ऐतिहासिक कारण रहे हैं। आज भी जितने धर्मसंघ हैं, किसी में भी सभवत एक नेतृत्व की व्यवस्था नही है। अलग-अलग शिष्य और शिष्याएं बनाने की परम्परा है। अनेक गच्छाधिपति और अनेक आचार्य हैं। सबकी व्यवस्थाए अलग-अलग हैं। आचार्य भिक्षु ने इस तथ्य पर ध्यान केन्द्रित किया—नेतृत्व एक होना चाहिए। आज का युग अनुशासनहीनता का युग है। इस अनुशासनहीनता के युग मे नेतृत्व एक नही होगा तो साधु-सघ की व्यवस्थाए ठीक नही हो पाएगी। यह अनुशासनहीनता की समस्या आज ही नही, आचार्य भिक्षु के समय मे भी बहुत प्रबल थी। आचार्य भिक्षु ने साधु-संस्था की तत्कालीन स्थिति का जो चित्र खीचा है, उससे यह बात बहुत स्पष्ट हो जाती है—

चेलां री ने कपड़ा तणीं, साताकारिया खेत्रां नीं ताहि।
आदि देइ बहु वस्तु नीं, ममतकरी मन मांहि॥
जीव अनन्त मूर्च्छा थकी, चारित्र रत्न गमाय।
नरक निगोद माहि गया, इम भाख्यो जिनराय॥
तिण सूं ममत शिषादिक तणी, मिटावण तणो उपाय।
चारित्र चोखो पालन तणों, उपाय कियो सुखदाय॥
भेषधारी विकला भणीं, मूंडी नें भेला करंत।
ते शिषां रा भूखा एक एक रा अवर्णवाद बोलंत॥
ते मांहो माहि फारा-तोरो करै, करै कजिया राड़ असमाध।
एह चिरत त्यां रा देखनै बांधी छै मर्याद॥

समस्या दल-बदल की

यह एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है। इसमे उस समय के इतिहास का यथार्थ चित्रण है। वर्तमान बिम्ब का प्रतिबिम्ब उसमे देखा जा सकता है। वर्तमान युग की सारी समस्याए प्रतिबिम्बत हो रही हैं। हम वर्तमान स्थिति का विश्लेषण करे। आज के राजनीतिक लोगो की स्थिति देखे। जितने राजनीतिक दल हैं, उनमे दलबदल की समस्या प्रबल बनी हुई है। अमुक राजनेता अपने दल को छोडकर दूसरे दल मे शामिल हो गया। अमुक राजनेता ने अपने दल से त्यागपत्र दे दिया। इस दलबदल की समस्या ने राजनीति के चरित्र को विकृत कर दिया। यह कानून बनाना पडा—कोई भी दलबदल करेगा तो उसकी सदस्यता समाप्त हो जाएगी। यह सब राजनीति में चलता है तो हमे आश्चर्य क्यो होना चाहिए ? आज से ढाई सौ वर्ष पहले आचार्य भिक्षु के समय साधु-सघ की भी यही स्थिति थी। जिन्होने घर-बार छोड़ा,

परिवार छोड़ा, वे भी दलबंदी में फंस गए। सामान्य व्यक्ति की बात ही क्या है!

समस्या की जड़

साधु बनने का अर्थ है—अहंकार और ममकार को छोड़ना। गुजरात के प्रसिद्ध व्यक्तित्व हुए हैं दादा भगवान। उनका ज्यादा बल इसी बात पर था—आई एण्ड माई—मैं और मेरा—ये दो बातें सारी समस्याओं की जड़ हैं। जब मैं और मेरापन का भाव साधु-सस्था का भी नही छूटता तो सामान्य व्यक्ति की बात ही क्या करें? राजनीति में जो कुछ चलता है, वह आश्चर्य की बात कैसे हो सकती है?

आचार्य भिक्षु ने इन सारी स्थितियों को देखा, इनका अध्ययन किया। ऐसी घटनाओ का विश्लेषण कर वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे—जब तक एक नेतृत्व नही होगा, इस समस्या का समाधान नही होगा। जहा नेतृत्व एक नही है, वहा प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे को खीचने का प्रयत्न करेगा। एक मुनि चाहेगा—मेरे दस शिष्य बने और दूसरा चाहेगा—मेरे बीस शिष्य होने चाहिए। सारे मानदण्ड और कसौटियो का आधार शिष्यो की संख्या बन जाएगी। ऐसी स्थिति मे साधुत्व खूटी पर लटक जायेगा, गौण हो जायेगा, दूसरे तत्त्व मुख्य बन जाएंगे। इसी आधार पर आचार्य भिक्षु ने लिखा—

शिष शाखा रो संतोष कराय नै, सुखं संजम पालण रो उपाय कीधो छै।

महाव्रत शिष्य न बनाने का

आचार्य भिक्षु की इस पक्ति ने शिष्य-शिष्या बनाने की प्रचलित पद्धति को बदल दिया। अपने-अपने शिष्य-शिष्या बनाने की जो परम्परा चल रही थी, उसको प्रतिबन्धित कर दिया। तेरापथ के साधु-साध्वियो का अर्थ है—शिष्य बनाने का सतोषी। भगवान महावीर ने साधु के लिए पाच महाव्रतो का विधान किया। आचार्य भिक्षु ने एक महाव्रत और दिला दिया—शिष्य न बनाने का। आज यह स्थिति है—तेरापथ के साधु-साध्वियो को शिष्य बनाने का सपना ही नही आता। शिष्य बनाने की प्यास सर्वथा बुझ गई। प्यास तब तक लगती रहती है, जब तक पानी मिलता रहता है। यदि पानी न मिले तो प्यास स्वय बुझ जाए। जब बहुत दिनो तक भोजन नहीं मिलता है तो भूख भी बुझ जाती है, खाने-पीने की रुचि ही समाप्त हो जाती है। यह मानना चाहिए—तेरापन्थ के साधु-साध्वियो मे शिष्य बनाने की जो आग थी, वह सर्वथा मद हो गई, बुझ गई।

अग्नि मंद हो गई

आयुर्वेद मे एक रोग है—अग्निमाद्य। जब अग्नि मद हो जाती है, तब व्यक्ति की भूख कम होने लग जाती है। जो खाया जाता है, वह भी पचता

नहीं है। पाचकरस का स्राव नही होता। जब पाचकरस का स्राव न हो तो खाना पचेगा कैसे ? शिष्य बनाने की भूख को जगाने वाले पाचकरस का स्राव ही बद हो गया तब यह लालसा कैसे बनी रहती ? आचार्य भिक्षु को को इस स्थिति के निर्माण में अनेक कठिनाइयो का सामना करना पड़ा। किसी प्रचलित परम्परा को बदलना कितना कठिन होता है ! अनेक साधुओ को यह विधान मान्य नही हुआ। परम्परा से जो सहज अधिकार प्राप्त था, उसे वे सहजता से कैसे छोडते ? तेरापथ की कुण्डली मे ही कोई ऐसा योग रहा है, जिससे अनेक कठिनाइया प्रस्तुत होती रहती हैं लेकिन साथ-साथ यह भी सच है—प्रत्येक कठिनाई उसे और अधिक मजबूती प्रदान करती है। आचार्य भिक्षु का ऐसा ही कोई प्रताप और प्रभाव था, जिससे यह बात साधुओं के गले उतरती चली गई।

जटिल है नेतृत्व का प्रश्न

नेतृत्व का प्रश्न सबसे जटिल है। चाहे कोई सभा है, सामाजिक या राजनैतिक सस्था है, धर्म के परिपार्श्व मे काम करने वाली सस्था है—सबमे पहले नेतृत्व का प्रश्न प्रमुख होता है। समाचार पत्रो मे पढते हैं - नेतृत्व के प्रश्न को लेकर अमुक दल मे विघटन और बिखराव की प्रक्रिया शुरू हो गई। नेतृत्व और अधिकार के प्रश्न को लेकर आजकल क्या नही होता ? आचार्य भिक्षु ने इस जटिल प्रश्न को सुलझा दिया। आज तेरापथ मे नेतृत्व का प्रश्न ही नही रहा।

आचार्यश्री राजलदेसर मर्यादा महोत्सव (सन् १९७७) सपन्न कर दिल्ली पधारे। उसी समय मुझे युवाचार्य बनाया गया था। मेरा पुराना परिचय मुनि नथमल के रूप मे था इसलिए युवाचार्य महाप्रज्ञ के रूप मे नया परिचय दिया जा रहा था। काफी लोग सपर्क मे आए। काग्रेस के प्रमुख नेता श्री यशवतराव चव्हाण, श्री सीताराम केसरी आदि अनेक विशिष्ट व्यक्ति आचार्यवर से मिले। आचार्यवर ने कहा—इस वर्ष हमने मुनि नथमलजी को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत कर युवाचार्य महाप्रज्ञ बना दिया है। श्री चव्हाण और केसरी यह बात सुनकर विस्मित हो उठे। उन्होने पूछा—आपने यह कैसे किया ? सत्ता का हस्तातरण इतनी सहजता से कैसे सभव बना ? उन्हे बताया गया—तेरापथ के वर्तमान आचार्य ही अपने उत्तराधिकारी की नियुक्ति करते है। इसमे किसी के हस्तक्षेप या परामर्श की कोई अपेक्षा नही होती। आचार्य जिस मुनि को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत करते हैं, उसे सारे साधु-साध्विया सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं।

श्री चव्हाण ने पूछा—क्या इस निर्णय को सबने स्वीकार कर लिया ?

आचार्यश्री ने कहा—हा !

चव्हाण बोले—आचार्यजी ! यह हमारे लिए सचमुच आश्चर्य की बात है। हमारे सामने भी ऐसी स्थितियां आती हैं लेकिन हम उन्हें सुलझा नही पाते।

आचार्यवर ने उन्हें तेरापन्थ की मर्यादा और व्यवस्था की विस्तार से जानकारी दी। श्री चव्हाण के मन पर इस घटना का गहरा असर हुआ। उन्होंने कहा—यह बात हम राजनेताओं को आपसे सीखनी चाहिए।

'एक आचार्य की आज्ञा मे रहे'—इससे उपजी हुई दो मौलिक मर्यादाए हैं—

विहार चातुर्मास आचार्य की आज्ञा मे करे।

अपना-अपना शिष्य (शिष्याए) न बनाए।

चौथी मौलिक मर्यादा है—आचार्य भी योग्य व्यक्ति को दीक्षित करे। दीक्षित करने पर भी कोई अयोग्य निकले तो उसे गण से अलग कर दे। यह मर्यादा आचार्य से संबधित है।

पाचवी मौलिक मर्यादा एक नेतृत्व को परपरित बनाने वाली है। उस मर्यादा का मूल पाठ है—'आचार्य अपने गुरु-भाई या शिष्य को अपना उत्तराधिकारी चुने, उसे सब साधु-साध्वियां सहर्ष स्वीकार करें।'

इसमे दो विकल्प है—गुरुभाई या शिष्य को अपना उत्तराधिकारी चुने। उत्तराधिकारी गुरुभाई भी हो सकता है और शिष्य भी। एक आचार्य के द्वारा दीक्षित दो शिष्य परस्पर गुरुभाई होते हैं। आचार्य डालगणी माणकगणी के शिष्य नही थे, गुरुभाई थे। डालगणी एक बार विहार कर रहे थे। श्राविकाए उनकी उत्कीर्तना मे एक गीत गा रही थी। गीत का एक बोल था—'माणकगणी रा चेला (शिष्य) ·· ··।' डालगणी इस शब्द को सुनते ही चौंके। उन्होने कहा—कौन गा रहा है गीत ? किसने कहा, मैं माणकगणी का चेला हू। मैं उनका उत्तराधिकारी हू पर शिष्य नही। मैं जयाचार्य का शिष्य हू और माणकगणी का गुरुभाई हू।

गुरुभाई और शिष्य—इनमे सूक्ष्म अन्तर है। यह व्यवस्था या परपरा की बात है। यह एक सघीय प्रोटोकाल की बात है कि किसे शिष्य कहा जाए और किसे गुरुभाई। आचार्य से जो छोटे हैं, वे सब शिष्य और जो बडे है, वे सब गुरुभाई कहलाते है।

आचार्य की कसौटियां

पाच मौलिक मर्यादाओं मे पहली मर्यादा है नेतृत्व की और पाचवी मर्यादा है नेतृत्व को परम्परित बनाने की। मध्यवर्ती तीन मर्यादाए आचार्य के अधिकार से जुडी हुई हैं। शेष जो नियम-उपनियम हैं, वे इन्ही का विस्तार हैं।

मूल प्रश्न है नेतृत्व का। आचार्य का शक्तिशाली होना बहुत जरूरी है। आचार्य की अनेक कसौटियां और अर्हताएं हैं। स्थानांग सूत्र मे आचार्य की छह कसौटिया उपलब्ध होती है—

१ श्रद्धावान्।	४, बहुश्रुत।
२ सत्यवान्।	५ शक्तिमान्।
३ मेधावी।	६ अल्पाधिकरण्य।

श्रद्धावान्

आचार्य की पहली कसौटी है श्रद्धावान् होना, श्रद्धेय होना। आचार्य किसी को बनाना होता है तो पहले यह देखना होता है—वह श्रद्धावान् है या नही? हमारी परम्परा के प्रति, मर्यादा और व्यवस्था के प्रति, आगम के प्रति श्रद्धा है या नही? अगर उनके प्रति श्रद्धा नही है तो वह व्यक्ति आचार्य पद के योग्य नही है। जिस दिन मुनि आचार्य बनता है, उसी दिन उसका ध्यान भविष्य की ओर केन्द्रित हो जाता है। आचार्य का यह सबसे बडा दायित्व है कि उसने जो भार उठाया है, उसे योग्य हाथो मे सौंपे, उसे परपरित बनाए। आचार्य बनते ही उसका तीसरा नेत्र खुल जाता है, वह आगे की बात देखने लग जाता है। आचार्य को हमेशा इस दिशा मे जागरूक रहना होता है। भविष्य की चिन्ता उसके साथ जुडी रहती है। उनके सामने कई व्यक्ति आते है। वे अनेक लोगो पर अपनी दृष्टि टिकाते हैं। कौन कैसा है? कौन कैसा है? इसकी समीक्षा करते रहते है। इनमे से अन्तिम वह होता है, जो इन कसौटियो पर खरा उतरता है। जो कसौटी पर खरा उतरता है, वह निखर जाता है। जो खरा नही उतरता, वह बिखर जाता है।

किसे चुनें?

आचार्यश्री कलकत्ता यात्रा के लिए प्रस्थान कर रहे थे। मंत्री मुनि ने प्रार्थना की—मुझे यहा रहना होगा। मै आपके साथ जा नही सकता। पता नही, अब आपके पुन दर्शन होगे या नही? मेरी एक प्रार्थना है—आपको आगे की व्यवस्था कर देनी चाहिए।

उस समय पचास वर्ष की अवस्था के आस-पास व्यक्ति को बहुत प्रौढ मान लिया जाता था। धारणा भी ऐसी ही थी—जो पचास वर्ष का हो गया, वह बूढा हो गया।

आचार्यश्री ने पूछा—आपका परामर्श क्या है?

मत्री मुनि ने तपाक से उत्तर दिया—मैंने पहले एक बार आपको परामर्श दिया था। उसमे मैं भूडा (गलत) दीख गया। अब मैं किसी का परामर्श नही दूगा। क, ख, ग, घ—चाहे जिसे आप चुनें, आपको ही करना है।

वह क्या करेगा ?

आचार्यवर ने कुछ व्यक्तियों पर इस संदर्भ मे ध्यान केन्द्रित किया। एक व्यक्ति के मन मे सम्भवत. यह भावना भी आ गई—मुझे ही सब कुछ मिलेगा। बातचीत के प्रसग में उसने आचार्यवर के सामने आगम के प्रति अनास्था की बात कर दी। उसने कहा—आगमो मे क्या है ? मुझे उसमे विश्वास नही है। इस एक अनास्थापूर्ण वाक्य को सुनकर आचार्यवर की धारणा ही बदल गई। उन्होने सोचा—जो आगम के प्रति श्रद्धाशील नही है, वह क्या करेगा ? आगम, जो हमारी साधना का मूल आधार है, उसके प्रति अनास्था का भाव रखने वाला व्यक्ति योग्य कैसे हो सकता है ? जिस व्यक्ति के मन मे आगम के प्रति श्रद्धा और आस्था नही है, वह आचार्य बनने का अधिकारी ही नही है।

सत्यनिष्ठ

आचार्य की दूसरी कसौटी है—सत्यवान् होना। सत्य भाषी होने का अर्थ है प्रतिज्ञा निर्वाह मे समर्थ होना। वह जो सकल्प करता है, उसका अन्त तक निर्वाह करता है।

मेधावी

आचार्य की तीसरी कसौटी है मेधावी होना। **'मेधावी धारणा क्षम'** जो मेधावी होता है, वह नए-नए तथ्यो की धारणा करने मे समर्थ होता है। आचार्य को अनेक बातो की धारणा होनी चाहिए। अनेक लोग कहते हैं—आचार्यश्री ! आप इतनी बाते याद कैसे रख लेते हैं ? क्या आपका दिमाग कम्प्यूटर है ? आचार्य हो और उसका दिमाग कम्प्यूटर न हो तो एक बडी कमी रह जाती है। केवल पारमार्थिक बातो की ही नही, व्यावहारिक बातो की भी धारणा रखनी होती है। उसके पास दो कम्प्यूटर होने चाहिए—एक आगमो के लिए और एक व्यवहार के सम्यग् निर्वाह के लिए। जो मेधावी होता है, वह इन दोनो को धारण कर लेता है।

बहुश्रुतता

आचार्य की चौथी कसौटी है—बहुश्रुतता। आचार्य का बहुश्रुत होना अत्यन्त आवश्यक है। वह स्वसमय और परसमय—दोनो का जानकार होना चाहिए।

शक्तिमान्

पाचवी कसौटी है—शक्तिमान होना। आचार्य कमजोर नही, शक्तिशाली हो। कमजोर व्यक्ति को हर कोई दबा देता है। शक्तिशाली कभी पीछे नही हटता, किसी के प्रभाव मे नही आता।

अल्पाधिकरण्य

छट्ठी कसौटी है—अल्पाधिकरण्य। आचार्य वह हो सकता है, जो कलह में विश्वास न रखे।

तेरापंथ संगठन के पांच महाव्रत

आचार्य की ये महत्त्वपूर्ण कसौटियां है। इनके आधार पर आचार्य भिक्षु ने एक व्यवस्था का निर्माण किया, पाच मौलिक मर्यादाओं का विधान किया। तेरापथ के प्रत्येक सदस्य—साधु-साध्वी, श्रावक और श्राविका के लिए ये पाच महाव्रत हैं। साधु के पाच महाव्रत, श्रावक के पाच अणुव्रत और तेरापथ सगठन के पाच महाव्रत। इन महाव्रतो के प्रति हमारी श्रद्धा और आस्था जितनी दृढ होगी, उतना ही धर्मसघ शक्तिशाली, तेजस्वी और यशस्वी बनता चला जाएगा।

तेरापंथ का संगठन

आचार्य भिक्षु ने सघ का एक प्रारूप बनाया, संविधान बनाया। उसमें अनेक व्यवस्थाएं की। उद्देश्य था—धर्मसंघ अखण्ड बना रहे, उसमें कही कोई दलबन्दी न हो। इस विषय को लेकर सभवत. साधुओ के मन में प्रश्न उठा होगा—साधु और दलबन्दी—दोनो मे मेल कहां है? सभव है—आचार्य भारमलजी ने भी यह प्रश्न पूछा होगा। उन्होने नही पूछा होगा, ऐसा हम क्यो मानें? साधु-साध्विया दलबन्दी न करे, यह विधान सगत कैसे हो सकता है?

धर्म : शासन

आचार्य भिक्षु ने इस प्रश्न का उत्तर दिया होगा—धर्म और शासन मे भेद और अभेद—दोनों होते हैं। राजनीति का भी शासन है और धर्म का भी शासन है। दो शब्द जुडे हुए है—जिन शासन। जिन शब्द धर्म का वाचक है। धर्म मनुष्य की वैयक्तिक चेतना है। शासन शब्द केवल व्यक्ति का वाचक नही है।

> **धर्मशासनयोर्भेदोऽभेदः सम्यग् विवक्षितः।**
> **धर्मो वैयक्तिकोऽपि स्यात् शासन सामुदायिकम् ।।**

आचार्य ने अपनी बात को विस्तार देते हुए कहा—धर्म वैयक्तिक भी हो सकता है, हिमालय की गुफा मे ध्यान-लीन होने पर भी हो सकता है पर उसे शासन नहीं कहा जा सकता। सौ व्यक्ति मिलकर धर्म को चलाए, वह धर्म भी है, शासन भी है। धर्म और शासन मे अभेद भी है और भेद भी है, इसका अर्थ है—जहा शासन है वहा व्यवहार है। निश्चयनय मे शासन की कोई जरूरत नही है, उसमे शासन होता ही नहीं।

शासन की उपयोगिता

बाईबिल का प्रसग है। प्रभु यीशु ने कहा—विवेकशील आदमी विवेकशील प्राणी पर शासन न करे। विवेकशील आदमी अविवेकशील प्राणी पर ही शासन करे। मनुष्य पशु पर शासन करे पर मनुष्य मनुष्य पर शासन न करे।

व्यवहार के क्षेत्र मे शासन की उपयोगिता असदिग्ध है। जहा निश्चय नय का प्रश्न है वहा न कोई शास्ता है, न शासित है और न शासन है। वहा केवल आत्मा है। निश्चय के क्षेत्र में किसी व्यक्ति से किसी व्यक्ति का कोई

सबंध नही होता। मृगचर्या निश्चय नय मे ही होती है। यह निश्चयाभिमुखी साधना की पद्धति है। जो स्थविरकल्पी साधना है, उसमे व्यवहार प्रमुख रहता है। जहा व्यवहार है, वहा कोरा धर्म नही है, शासन भी है।

शासन : मूल अर्थ

शासन के लिए अग्रेजी मे शब्द है—गवर्नमेंट। इसका लेटिन भाषा मे मूल अर्थ है—नौका को चलाना। नौका मे दस-बीस या सौ दो-सौ आदमी बैठ गए। उन्हे कोई चिन्ता नही है। चिन्ता है कर्णधार को, नौका चलाने वाले को। उसका काम है नौका को सही सलामत रखना, उसे लक्ष्य तक पहुचाना। इसका अर्थ है शासन।

दलबन्दी की समस्या

जहा शासन है वहा सगठन भी होगा, पद की व्यवस्था भी होगी। प्राचीन काल मे सात पदो की व्यवस्था थी। आचार्य, उपाध्याय, गणि, गणावच्छेदक, प्रवर्तक और प्रवर्तिनी—ये सात पद थे। जहा पद होगे वहा मूल्य भी होगे, महत्त्वाकाक्षा को जगाने के अवसर भी होगे। जहा कोई पद नही है वहा महत्त्वाकाक्षा का प्रश्न ही नही है। जहा सगठन है, पद है, पद की व्यवस्था है वहा महत्त्वाकाक्षा का जागना भी प्रासगिक बन जाता है। जहा महत्त्वाकाक्षा है वहा दलबन्दी होना भी सभव है। आचार्य भिक्षु के समय मे भी दलबन्दी की समस्या प्रस्तुत हो गई। नया-नया सगठन विकसित हो रहा था और उसमे यह समस्या भी प्रबल रूप से सामने आई। अनेक मुनियो ने अनेक साधुओ को आचार्य से विमुख करने की कोशिश की, सघ मे भेद डालने के तीव्र प्रयत्न किए।

सविधान की मूल धाराएं

आचार्य भिक्षु ने सविधान की जो धाराए रची, उनमे इस समस्या का यथार्थ चित्रण है। सविधान का मूल पाठ इसका साक्ष्य है—

'गण की अखण्डता के लिए यह आवश्यक है कि कोई साधु-साध्वी आपस मे दलबन्दी न करे। इसीलिए भिक्षु स्वामी ने पैतालिस (वि० स० १८४५) के लिखत मे कहा है—जो गण मे रहते हुए साधु-साध्वियो को फटाकर दलबन्दी करता है। वह विश्वासघाती और बहुलकर्मी है। स्वामीजी ने स्थान-स्थान पर दलबन्दी पर प्रहार किया है। पचास (वि० स० १८५०) के लिखत मे स्वामीजी ने लिखा है—'कोई साधु-साध्वी गण में भेद न डाले और दलबन्दी न करे।' चन्द्रभाणजी और तिलोकचन्दजी को इसलिए गण से अलग किया कि वे जो साधु आचार्य के सम्मुख थे, उन्हे विमुख करते थे। छिपे-छिपे गण के साधु-साध्वियो को फोड-फोड कर अपना बना रहे थे, दलबन्दी कर रहे थे। हमारा यह प्रसिद्ध सूत्र है **'जिल्लो ते संयम ने टिल्लो।'**

गण में भेद डालने वाले के लिए भगवान् ने दसवें प्रायश्चित्त का विधान किया है।'

अमिट उल्लेख

तेरापथ के सविधान का यह शाश्वत सूत्र बन गया। मुनि तिलोकचंदजी, चद्रभानजी चले गए पर सघीय सविधान मे उनका उल्लेख अमिट बन गया। युवाचार्य की नियुक्ति का प्रश्न था। मुनि भारमलजी को युवाचार्य बनाने की बात सामने आई। मुनि चद्रभानजी ने कहा—भारमलजी तो भोले हैं, वे इस पद के लायक नही हैं। यह पद तो मुनि तिलोकचन्दजी को मिलना चाहिए। आचार्य भिक्षु उनके कथन का आशय समझ गए। उन्होने कहा—मुनि तिलोकचन्दजी को सूरि पद तो नही, सूरदास पद अवश्य मिल सकता है।

साधुओं का संविधान

छापर मर्यादा महोत्सव (सन् १९८९) के अवसर पर प्रेस कान्फ्रेन्स आयोजित हुई। आचार्यवर ने उस प्रेस कान्फ्रेन्स मे पत्रकारो को तेरापथ का संविधान पत्र दिखाया। उस सविधान मे आलेखित मर्यादाओ के बारे मे विस्तार से जानकारी दी। पत्रकार इन मर्यादाओ को सुनकर विस्मित रह गए। यूनीवार्ता, भाषा आदि समाचार ऐजेंसियो ने विस्तृत खबरे प्रसारित की। बडे विचित्र शीर्षक लगाए —'साधुओ का सविधान।' राजनेताओ का सविधान होता है पर साधुओ का भी सविधान होता है। इस बात पर बहुत विस्मय प्रकट किया गया। यह सच है तेरापन्थ धर्मसघ का जितना व्यवस्थित संविधान है उतना अन्यत्र दुर्लभ है। सगठन मे पहले ही दिन कोई साधु वीतराग बन जाए, यह नही हो सकता। राग-द्वेष के सस्कारो को चीरती हुई प्रकाश की एक किरण किसी क्षण फूट गई वैराग्य जाग गया और व्यक्ति मुनि बन गया। उसे धीरे-धीरे साधना करते-करते बहुत आगे बढना है। अतीत मे भी साधुओ ने क्या नही किया ? महावीर के शिष्यो ने उनके साथ कैसा व्यवहार किया। यह जान लेने पर मर्यादा और व्यवस्था की अनिवार्यता सहज समझ मे आ जाती है।

साक्षी है इतिहास

देवदत्त बुद्ध का शिष्य था। उसके मन मे प्रबल भावना थी बुद्ध का उत्तराधिकार पाने की। वह चाहता था—मैं बुद्ध का उत्तराधिकारी बनूं। उसने बुद्ध के साथ कैसा व्यवहार किया ? देवदत्त ने बुद्ध को नीचे गिरा दिया और स्वय पत्थर लेकर बुद्ध के ऊपर बैठ गया।

जब तक राग-द्वेष विद्यमान है, तब तक वह छद्मस्थ है, प्रमादी है। लोग साधु के प्रति एक श्रद्धा की प्रतिमा बना लेते हैं, वह आवश्यक भी है पर

साथ मे यह भी मानकर चलें—साधु प्रमत्त गुणस्थान मे है, उसमें प्रमाद भी है। जहा प्रमाद है, वहा अनेक भूलें हो सकती हैं। तेरापन्थ का इतिहास इसका साक्षी है।

विकास का आधार

आचार्य भिक्षु ने भारमलजी को युवाचार्य बनाया तब भी अपनी महत्त्वाकाक्षा की पूर्ति न होने पर अनेक व्यक्ति सघ से अलग हो गए। जयाचार्य ने मघवागणी को युवाचार्य बनाया तब भी ऐसा ही हुआ। आचार्यश्री ने मुझे युवाचार्य बनाया तब भी इतिहास पुनरावृत्त हुआ और वह सबके सामने प्रत्यक्ष है। डालगणी और माणकगणी के समय मे ऐसा अवसर ही नही मिला। जब-जब अवसर मिला तब-तब ऐसी घटनाए हुईं। एक समस्या यह भी है—जब कई साधु समर्थ बन जाते हैं, तब इसकी सभावना अधिक हो जाती है। इन सारी स्थितियो को अपनी दूरदर्शी दृष्टि से परख कर आचार्य भिक्षु ने एक मजबूत धारा निर्मित की—तेरापथ धर्मसघ अखण्ड रहे, गण की अखण्डता बनी रहे। जहा गण खण्डित होता है वहा शक्ति बिखर जाती है। तेरापथ धर्मसघ का जो इतना विकास हुआ है, वह गण की अखण्डता के आधार पर ही हुआ है। आचार्यश्री के मन मे नए-नए स्वप्न उठते है, कल्पनाए जागती है और क्रियान्वित हो जाती है। इसका कारण है गण की अखण्डता। यदि गण खण्डित होता तो ऐसा होना कभी सम्भव ही नही था।

न्याय की परिभाषा

सघ से अलग होने वाले अनेक बार कहते हैं—मेरे साथ न्याय नही हुआ। मुझे जो मिलना चाहिए था, वह नही मिला। इस सदर्भ मे प्लेटो का कथन बहुत महत्त्वपूर्ण है। लेटो ने न्याय की बहुत सुन्दर परिभाषा दी। न्याय का आधार समानता नही है। जिसको जो देय है, वही देना, इसका नाम है न्याय। एक साधु है वह पाच समिति, तीन गुप्ति और पाच महाव्रत की सम्यग् आराधना करता है। दूसरा भी इनकी आराधना करता है, तीसरा भी इनकी आराधना करता है। सब इनकी आराधना करने वाले हैं। इसका अर्थ है—सब साधु समान है। कहा जा सकता है—यदि सब साधु समान है तो किसी को भी आचार्य बना दिया जाना चाहिए। यह न्याय नही है। जिसको जो देय है, वही देना चाहिए और यही न्याय है।

संघ कब तक चलेगा

शासन, सगठन, पद-व्यवस्था, महत्त्वाकाक्षा और न्याय—ये सारी बाते सगठन से जुडी हुई हैं। आचार्य भिक्षु ने दलबन्दी पर प्रहार कर धर्मशासन को सुन्दर और भव्यरूप दे दिया। उसका ही यह परिणाम है—तेरापन्थ एक

नेतत्व मे एकजुट होकर प्रगति कर रहा है।

आचार्य भिक्षु से पूछा गया—यह सगठन कब तक चलेगा ? आचार्य भिक्षु ने कहा—जब तक नीति शुद्ध रहेगी, एक नेतृत्व की बात चलेगी, संगठन ठीक चलेगा। सबके साथ न्याय होगा, साधु-साध्वियों का आचार व्यवहार ठीक होगा तब तक यह सघ अबाध गति से चलता रहेगा।

आचार्य भिक्षु का यह मार्मिक वाक्य प्रत्येक तेरापथी के मानस-पटल पर ही अकित नही होना चाहिए, उसके आचार और व्यवहार में भी स्पष्ट परिलक्षित होना चाहिए। ऐसा होने पर ही तेरापन्थ धर्मसघ सदा अक्षुण्ण और गतिशील बना रह सकता है।

वैचारिक अनाग्रह

समाचार पत्र मे एक टिप्पणी पढी—'हिन्दुस्तान मे राष्ट्रीय स्वयसेवक सघ, भारतीय जनता पार्टी, मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी आदि कुछ सगठन या पार्टिया ऐसी हैं, जिनके पीछे सिद्धात हैं। ये दल और सगठन अपने निश्चित सिद्धात या विचारधारा के आधार पर चल रहे हैं। ये सामयिक महत्त्वाकाक्षा के आधार पर चलने वाले दल नही है।' लेखक ने कुछ पार्टियो के नाम गिनाए हैं। हो सकता है, कुछ अन्य पार्टिया भी हो, जिनके अपने सिद्धान्त और नीतिया है। किन्तु यह विचार निश्चित ही बहुत महत्त्वपूर्ण है। जो दल निश्चित विचारधारा के आधार पर चलता है, वह गति करता है, विकास करता है। सिद्धातहीन दल बरसाती मेढको की तरह होते हैं, जो एक बार बहुत फुदकते है, इधर-उधर हलचल मचाते है, किंतु उनका अस्तित्व बहुत जल्दी समाप्त हो जाता है।

आचार, विचार और व्यवस्था

किसी भी सगठन के लिए तीन बाते जरूरी होती है—आचार, विचार और व्यवस्था। सघ के श्रेयस् के लिए इन तीनो के विकास मे बुद्धि का नियोजन करना चाहिए।

> **विचार सम्यगाचार. व्यवस्थेति त्रयी मता।**
> **गणस्य श्रेयसे तेन, मतिस्तत्र निविश्यताम्॥**

सौभाग्य से आचार्य भिक्षु ने इन तीनो बातो पर ध्यान केन्द्रित किया। कुछ लोग बहुत विचारक होते है पर आचार को गौण कर देते हैं। कुछ लोग बहुत आचारनिष्ठ होते है पर विचार को गौण कर देते है। कुछ लोग आचार और विचार—दोनो मे रस लेते है, पर व्यवस्था को गौण कर देते है। ये तीनो नही होते है तो पूरी बात बनती नही है। हमारे सामने उदाहरण है महात्मा गाधी का। महात्मा गाधी बहुत अच्छे विचारक और बुद्धिमान व्यक्ति थे। वे आचारनिष्ठ भी थे। किन्तु उन्होने व्यवस्था की और ध्यान नही दिया। उन्होने वर्तमान जीवन पर ध्यान दिया पर उत्तरकालीन व्यवस्था पर नही। यदि वे इस तथ्य पर ध्यान देते और इस दिशा मे कुछ निर्णय लेते तो लाखो आदमी न भी होते पर कुछ ऐसे दीप और ज्योतियां अवश्य जलती, जिनका प्रकाश पाकर दूसरे भी आलोकित हो उठते। दीवट ही नही है तो दीप कैसे जलेगा? दीप के जलने के लिए दीवट का होना भी

बहुत जरूरी है।

अनिवार्य हैं व्यवस्था के नियम

ध्यान का सूत्र है—वर्तमान मे जिए। यह ध्यान का बहुत अच्छा सूत्र हो सकता है पर सगठन का नही। ध्यान ध्यान के स्थान पर है और सगठन सगठन के स्थान पर। भगवान् महावीर ने व्यवस्था के नियमो को अनिवार्य बनाया। उन्होने व्यवस्था के सन्दर्भ मे कहा–जो ऐसा नहीं करेगा, उसके लिए यह प्रायश्चित्त होगा और जो इस नियम का अतिक्रमण करेगा, उसके लिए यह प्रायश्चित्त अनिवार्य है। उन्होने ऐसा नही कहा—जो ध्यान नही करता, उसके लिए यह प्रायश्चित्त होगा। ध्यान अपने विकास की बात है। जो अपना विकास करना चाहे, वह ध्यान करे और जो अपना विकास न चाहे, वह ध्यान न करे। महावीर ने उपवास और तपस्या की भी अनिवार्यता नही बतलाई किन्तु व्यवस्था के नियमो के पालन को अनिवार्य बताया। छेदसूत्रो मे व्यवस्था के नियम भरे पडे हैं। एक नियम बनाया गया—राजधानी मे साधु इतनी बार से ज्यादा चला जाए तो इतना प्रायश्चित्त दिया जाए। यह नियम व्यवस्था का नियम है। इतिहासकार मानते हैं—भगवान् महावीर व्यवस्था करने मे बहुत कुशल थे किन्तु बुद्ध व्यवस्था मे इतने कुशल नही थे। बुद्ध ध्यान पर अधिक केन्द्रित रहे पर महावीर ने ध्यान के साथ-साथ व्यवस्था पर भी बहुत ध्यान दिया और बहुत अच्छी व्यवस्थाए की।

संगठन महत्त्वपूर्ण पक्ष

सगठन के लिए केवल वर्तमान काल पर ही नही, उत्तरकाल पर भी सोचना आवश्यक होता है। आचार्य भिक्षु ने भी उत्तरकाल के बारे मे सोचा और अन्य आचार्यो ने भी उत्तरकाल के बारे मे सोचा। जो आचार्य अपने उत्तरकाल की व्यवस्था के बारे मे ध्यान केन्द्रित नही करता, वह शायद अपने दायित्व के प्रति भी न्याय नही करता और सघ के प्रति भी न्याय नही करता। यदि किसी कारण से ध्यान न दे, गहरी छानबीन न करे तो बहुत समस्याए पैदा हो जाए। स्तालिन और ब्रेझनेव बहुत शक्तिशाली हुए है किंतु उन्होने व्यवस्था पर बहुत ध्यान नही दिया, इसीलिए उत्तरकाल मे अनेक कठिनाइया सामने आईं। स्थिति यह है—आज सोवियत सघ का अस्तित्व ही मिट गया है। सगठन का महत्त्वपूर्ण पक्ष है व्यवस्था पर ध्यान केन्द्रित करना।

साधु कैसे माना जाए ?

आचार्य भिक्षु से किसी व्यक्ति ने कहा—आप हम लोगो को साधु भी नही मानते, श्रावक भी नही मानते। आचार्य भिक्षु बोले—मैं न किसी को असाधु कहता हूं और न किसी को अश्रावक कहता हू। जिनकी मान्यता का

कोई 'मुह-माथा' नहीं है, कोई आधार नही है, उन्हे साधु या श्रावक कैसे माना जाए ? आचार्य भिक्षु ने उदाहरण की भाषा में कहा—एक बार कुछ लोग मिले। उन्होने कोयले की राब बनानी शुरू की। उस दिन अमावस्या की काली रात थी। वह पकाई जा रही थी काले बर्तन मे। बनाने वाले भी अधे थे, परोसने वाले भी अधे थे और खाने वाले भी अंधे थे। उनमे से एक आदमी खडा होकर कह रहा था—देखो! सावधान और जागरूक रहना, कही भोजन मे कोई काला कलूटा आ न जाए। जहा सारा काला ही काला है वहा और काला क्या आएगा ? किसका ध्यान रखा जाएगा ?

प्रश्न विचार की एकता का

आचार्य भिक्षु ने इस बात पर गहराई से ध्यान दिया—विचार की पवित्रता या एकता रहे। संघ मे एक विचार रहे, एक मान्यता और सिद्धात रहे। कठिनाई यह भी है—सघ और गण किसी एक व्यक्ति का नही होता और उस पर किसी एक व्यक्ति का अधिकार भी नही होता। व्यवस्था के लिए आचार्य होते हैं, दूसरे अधिकारी भी हो सकते हैं पर अधिकार किसी का नही होता। विचार के क्षेत्र मे सबको छूट है, सोचने की पूरी स्वतन्त्रता है। विचार पर कोई पाबन्दी कैसे हो सकती है ? ऐसा भी नही है कि संघ मे एक ही व्यक्ति पढा लिखा होगा, बहुश्रुत होगा, शेष सारे भट्टारक ही भट्टारक होगे। सब पढने और लिखने वाले हैं, सोचने और विचारने वाले हैं। इस स्थिति मे एक विचार कैसे हो सकता है ?

वैचारिक संघर्ष को मिटाने की संहिता

इस सन्दर्भ मे आचार्य भिक्षु ने जो विधान दिया, वह अत्यत महत्त्वपूर्ण है। पूरे वैचारिक जगत् मे ऐसा किसी ने लिखा है या नही, यह खोज का विषय है। विचारो का द्वन्द्व हो जाए तो क्या किया जाए ? कैसे समाधान किया जाए ? अनेकात का दर्शन हमारे पास है पर उसका व्यावहारिक रूप क्या बने ? सम्भवत प्रथम बार आचार्य भिक्षु ने वैचारिक सघर्ष को मिटाने की आचार सहिता प्रस्तुत की। इस आचार सहिता की मूल भाषा इस प्रकार है—

'गण की एकता के लिए यह आवश्यक है कि उसके साधु-साध्वियो मे सिद्धात या प्ररूपणा का कोई मतभेद न हो इसलिए भिक्षु स्वामी ने कहा है—'कोई सरधा, आचार, कल्प या सूत्र का कोई विषय अपनी समझ मे न आए अथवा कोई नया प्रश्न उठे, वह आचार्य व बहुश्रुत से चर्चा जाए, किंतु दूसरो से चर्च कर उन्हे शकाशील न बनाया जाये। आचार्य व बहुश्रुत साधु जो उत्तर दे, वह अपने मन में जचे तो मान ले, न जचे तो उसे 'केवलीगम्य' कर दे, किंतु गण में भेद न डाले, परस्पर दलबन्दी न करे।'

सिद्धांत और प्ररूपणा का मतभेद न हो

पहली बात है—सिद्धांत और प्ररूपणा मे मतभेद न हो। किसी मान्यता को जानना सिद्धात है और उसे दूसरों को बतलाना प्ररूपणा है। जैसा जाना है, वैसी प्ररूपणा करे। यह नही हो सकता—कोई साधु कुछ प्ररूपणा करे और कोई साधु कुछ प्ररूपणा करे। गण में ऐसा होना सम्भव ही नही है। यदि ऐसा होता है तो गण का कोई अर्थ ही नही हो सकता। यह सम्भव है—कोई विचार या सिद्धात समझ मे न आए। इस स्थिति मे उस विचारभेद की चर्चा कर सामान्य मुनियो को शकाशील न बनाए। विचारभेद की चर्चा बहुश्रुत और आचार्य के साथ करे। आचार्य या बहुश्रुत जो उत्तर दे, वह जचे तो उसे स्वीकार कर ले। यह कितना वैज्ञानिक और दूरदर्शिता पूर्ण अभिलेख है। यह नही कहा गया—तुम्हे जचे या न जचे, मानना ही होगा। यह कहा गया—यदि न जचे तो उसे केवलीगम्य कर दे किन्तु गण मे भेद न डाले।

विभाजन के कारण

सगठन की अक्षुण्णता का यह महत्त्वपूर्ण सूत्र है। हम देखते हैं—राजनीति के क्षेत्र मे नित नए दल बनते हैं। एक दल के अनेक टुकडे हो जाते हैं। सम्भवत नए दल कम बनते है, बने हुए दलो के टुकडे अधिक होते है। समाचार पत्र मे पढा—एक दल मे तीन विभाजन हो गए। कारण क्या है ? कोई आचार-संहिता नही, कोई विचार और सिद्धात नही। जिस दल की पृष्ठभूमि मे कोई निश्चित दर्शन नही होता, विचार और सिद्धात नही होता, कोई निश्चित नीति नही होती, वैचारिक द्वन्द्व को सुलझाने के लिए उचित आचार-सहिता नही होती, उस दल मे अनेक बार विभाजन होना सम्भव है। या यह हो सकता है कि कोई किसी को कुछ न कहे, जिसके मन मे जो जचे, वह वैसा करता चला जाए।

धर्म-सम्प्रदाय : वर्तमान स्थिति

आज ऐसे धर्म-सम्प्रदाय भी हैं, जिनमे न कोई कहने वाला है और न कोई सुनने वाला है। जिसके जो जचता है, वह वही कर लेता है। कोई रुपया इकट्ठा कर रहा है, कोई बडे बडे भोज करवा रहा है और भी न जाने क्या क्या किया जा रहा है ? कोई सिद्धात और दर्शन नही है। सिद्धात क्या है ? यह जानते ही नही हैं। उनका एक ही सिद्धात है—धमकियां देना, डर दिखाना। जहा इस डर की ओट मे सब कुछ चलता है वहां कैसा सगठन हो सकता है ? ऐसे व्यक्तियो के समूह को सगठन कहना ही मुश्किल है। इसे हम स्वार्थों का समझौता कह सकते हैं। एक ऐसा समझौता बना हुआ है, जिसका तात्पर्य है—तुम मेरे स्वार्थ मे बाधक मत बनो, मैं तुम्हारे स्वार्थ

में बाधक नही बनूगा। तुम मेरा स्वार्थ साधो और मैं तुम्हारा स्वार्थ। स्वार्थों का समझौता किया, कुछ लोग मिल गए, खूब मौज-मजा किया। वहा कहने-सुनने का प्रश्न ही कैसे हो सकता है? ऐसे सगठन को प्राणवान् नही कहा जा सकता। वह हड्डियों का ढाचा मात्र हो सकता है। आचार्य भिक्षु का यह वाक्य—गण मे भेद न डाले—वैचारिक आग्रह या विचार की एकता का महत्त्वपूर्ण सूत्र है।

वैचारिक आचार-संहिता : पहला निष्कर्ष

इस वैचारिक आचार-सहिता के आधार पर कुछ निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। वे दर्शन और विचार के क्षेत्र मे बहुत मूल्यवान् हो सकते हैं। पहला निष्कर्ष है—सत्यद्रष्टा के अनुभवो का अनुसरण करो। जो सत्यद्रष्टा हैं, तीर्थंकर हैं, उनकी वाणी हमारी गति का आधार है। बिना आधार कोई चल नही सकता। केवल मौखिक बात भी चल नही पाती। मौखिक बात का मूल्य तब होता है जब तीर्थंकर प्रवचनकार होते है। वे कहते हैं—मैं ऐसा कहता हू और लोग उसी रूप मे मान लेते हैं। जहा समान विचार और समान बुद्धि वाले लोग है वहा यह सम्भव नही हो सकता। एक व्यक्ति कहता है—मैं ऐसा कहता हू। दूसरा यह कह सकता है—क्या मैं कम बुद्धिमान् हू? क्या बुद्धि का ठेका तुमने ही ले लिया? बुद्धि पर किसी का ठेका नही है। तुम विचारक हो तो अपने घर पर बैठे रहो। हम क्या कम सोचने वाले है? इस स्थिति में वैचारिक एकता का कोई आधार नही बनता। आधार के बिना गति लडखडा जाती है। इस स्थिति मे एक अन्तिम आधार चाहिए, जहा सब मौन हो जाए। आचार्य भिक्षु ने जिनवाणी को अपना आधार मान लिया। जिनवाणी के आधार का अर्थ है—सत्यद्रष्टा के अनुभवो का अनुसरण।

दूसरा निष्कर्ष

दूसरा निष्कर्ष है—जो निर्णय करना है, तटस्थ भाव से करो, पक्षपात-पूर्ण नही। किसी के निश्रित होकर नही, राग-द्वेष से प्रभावित होकर नही। सर्वथा तटस्थ भाव से सोचो। वैचारिक अनाग्रह या वैचारिक एकता का यह दूसरा महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष है।

तीसरा निष्कर्ष

तीसरा निष्कर्ष है—जो बुद्धिगम्य हो, उसे बुद्धि से स्वीकार करो। बुद्धि का भी एक चौखटा है। हर बात बुद्धिगम्य नही हो सकती। बहुत सारे ऐसे तथ्य हैं, जो बुद्धिगम्य हो सकते हैं। कुछेक ऐसे सूक्ष्म तथ्य है, जो बुद्धि-गम्य नही हो सकते। आचार्य भिक्षु ने बुद्धि पर बहुत बल दिया, उसका प्रबल समर्थन किया। उनका यह मानना था—बुद्धिमान् को ही समझाया जाना चाहिए।

मुनि वीरभाणजी ने आचार्य भिक्षु से कहा—महाराज ! मैंने केलवा में नगजी को समझाया, वह सम्यग्दृष्टि बन गया।

स्वामीजी बोले--नगजी कोई बहुत बुद्धिमान् व्यक्ति नही है। तुमने उसको कैसे सम्यग्दृष्टि बना दिया ?

वीरभाणजी ने कहा—महाराज ! मैंने उसे ओलखणा की ढाल सिखा दी और सम्यग्दृष्टि बना दिया।

स्वामीजी ने सोचा—वह आदमी समझदार तो नही है। क्या वह तत्त्व को समझ पाएगा ? समझने के लिए बुद्धि का होना जरूरी है। बिना बुद्धि आदमी कैसे समझ सकता है ?

कुछ दिनो बाद आचार्य भिक्षु केलवा पधारे। नगजी दर्शन करने आए। आचार्य भिक्षु ने पूछा—नगजी ! क्या क्या सीखा है ? नगजी ने कहा—महाराज ओलखणा की ढाल सीखी है, और भी कई बोलो की धारणा की है।

स्वामीजी ने पूछा—नगजी ! आगमो मे नदन मणियारा का वर्णन आता है। यह मणिया काच का था, काठ का था या सोने का था ?

नगजी ने जवाब दिया—महाराज ! सूत्रो में लिखा है तो सोने का ही होगा, काठ और काच का कैसे होगा ?

स्वामीजी ने एक प्रश्न और पूछा—नगजी ! साध्विया शब्द है। इनमे धविया कौन-सी हैं ? मारवाड मे धविया कहते हैं धौकनी को। ये धविया गडरिये की है ? या जो लौहार की बडी बडी धौकनिया चलती हैं, वे हैं ?

नगजी का उत्तर था—महाराज ! जब आगमो का वर्णन है तो लौहार वाली बडी धौकनी ही होगी।

आचार्य भिक्षु के मन मे नगजी की समझदारी पर क्या प्रतिक्रिया हुई होगी ? उन्होने कहा होगा—बहुत अच्छा सम्यग्दृष्टि बनाया।

आवश्यक है बुद्धि की प्रखरता

वस्तुत: बुद्धि के बिना कोई भी विचार या सगठन आगे नही बढ सकता। बुद्धि गति की शर्त है। जिस सगठन मे बुद्धिमान् लोग नही होते, समझने की शक्ति वाले लोग नही होते, वह कैसा सगठन होता होगा ? इसीलिए आचार्य भिक्षु ने बुद्धि पर ताला नही लगाया, बुद्धिवाद के मार्ग को बन्द नही किया। प्रश्न हुआ—बुद्धिगम्य बात को स्वीकार किया जा सकता है लेकिन जो बुद्धिगम्य नही है, उसके लिए क्या करे ? समस्या यह भी है—सबकी बुद्धि समान नही होती। सामान्य बुद्धि वाले आदमी को तत्काल समझ नही आती। एक विशिष्ट बुद्धिवाला व्यक्ति उसे समझाता है और वह समझ

जाता है। कुछ बातें ऐसी भी होती हैं, जहां बुद्धि भी काम नहीं देती। वे बातें इतनी सूक्ष्म होती हैं कि बुद्धि चकरा जाती है। जयाचार्य ने कुछ ऐसे सूक्ष्म प्रश्न उठाए और उन पर अपनी मीमासा प्रस्तुत की। वे ऐसे प्रश्न हैं, जिन्हे हर किसी आदमी के सामने रखना भी उपयुक्त नही है। यदि कोई कच्ची बुद्धि वाला हो तो और अधिक उलझ जाए। प्रखर बुद्धिमान् व्यक्ति उन प्रश्नो को देखकर चकरा गए। हमारे धर्मसघ के अनेक वरिष्ठ मुनि उन प्रश्नों में उलझ गए। उनके मनमे भी प्रश्न उभर आए—यह भेदरेखा कैसे खीची गई ? यह कितनी विचित्र भेदरेखा है ? आगमवेत्ता और बहुश्रुत जयाचार्य ने जिस बात को कहा, उसे अनेक मुनि समझ नही पाए। इसी कारण अनेक मुनि सघ से भी अलग हो गए।

चौथा निष्कर्ष

यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न है—यदि बुद्धिमम्य न हो तो क्या किया जाए ? आचार्य भिक्षु ने इस प्रश्न के सन्दर्भ मे जो बहुत सुन्दर मार्गदर्शन किया है, उसे इस वैचारिक आचार-संहिता का चौथा निष्कर्ष कहा जा सकता है। वह निष्कर्ष है—जो बात बुद्धिगम्य नही है, उसे श्रद्धा से स्वीकार करना। व्यक्ति यह सोचे—अमुक बात मेरी बुद्धि में नही बैठ रही है पर मुझे आचार्य पर श्रद्धा है, अमुक बहुश्रुत पर विश्वास है इसलिए मैं यह बात उनके विश्वास के आधार पर मानूगा। आज मेरे समझ मे यह बात नही आई इसलिए मैं इसे इस विश्वास के साथ स्वीकार करता हूं, भविष्य मे मैं इसे समझने का प्रयत्न करूगा। सम्भव है—यह बात आगे समझ मे आ जाए। आज समझ में नही आई, हो सकता है--दस वर्ष बाद समझ मे आ जाए। जैसे जैसे ज्ञान बढेगा, अनुभव बढेगा, चिन्तन और विचार की क्षमता बढेगी, बात समझ मे आ जाएगी। मुनि आचार्य से कहेगा—महाराज! आपकी बात मेरे गले नही उतरी है, बुद्धि से समझ मे नही आई है पर मैं उसे आपके प्रति श्रद्धा होने के कारण मान रहा हू। वैचारिक अनाग्रह का यह सूत्र कितना महत्त्वपूर्ण है ?

पांचवां निष्कर्ष

एक प्रश्न और उभरा—मान लीजिए, किसी में बुद्धि भी पूरी नही है और श्रद्धा भी नही है। इस स्थिति मे क्या किया जाए ? इस सन्दर्भ में वैचारिक आचार-सहिता का पाचवा निष्कर्ष महत्त्वपूर्ण है—जो बात समझ मे न आए, उसे केवलीगम्य कर देना। मुनि जिस बात को बुद्धि से स्वीकार न कर पाए, श्रद्धा से स्वीकार न कर पाए, उसे केवलीगम्य कर दे। यह वैचारिक आग्रह से बचने का अतिम सूत्र है। मुनि यह सोचे—मैं छद्मस्थ हूं, मेरा ज्ञान अल्प है, व्यवहार मे मुझे यह बात सच नही लग रही है, हो सकता है—यह वास्तव मे सच हो। 'सच क्या है' इसे सर्वज्ञ ही जान सकते हैं। मैं अपनी बात

का आग्रह क्यों करूं ? खीचतान क्यो करू ? मुझे क्या अधिकार है खीचतान और विवाद करने का ? मैं इसे सर्वज्ञ के लिए छोड़ रहा हूं। वैचारिक अनाग्रह का यह अतिम सूत्र है।

विचार और आचार की एकता का आधार

आचार्य भिक्षु ने सगठन को एक सूत्र मे बाधे रखने के लिए, विचार और प्ररूपणा की एकता के लिए वैचारिक क्षेत्र मे जो आचार-सहिता दी, वह आज भी शायद अलौकिक और अद्वितीय बनी हुई है।

यह गर्व के साथ कहा जाता है—एक आचार, एक विचार और एक आचार्य—यह तेरापथ की विशेषता है। प्रश्न होता है—एक विचार और आचार का आधार क्या है ?

मुनि भीमराजजी बहुत ज्ञानी सत थे। वे सूत्रो के ही अध्येता नही थे, विज्ञान की खोजो का भी अध्ययन करते थे। विज्ञान और आगम—दोनो मे समान रुचि रखने वाले सत थे। उन्होने एक नई बात खोज ली। उनका मानना था—आयुष्य टूट सकता है, अकाल मृत्यु हो सकती है। सघीय प्ररूपणा यह थी—आयुष्य नही टूटता, अकाल मृत्यु नही होती। उनसे कोई पूछता—महाराज ! क्या आयुष्य टूट सकता है ? वे इस प्रश्न पर मौन हो जाते, अपना मत किसी को नही बताते। वे यही कहते—इस बारे मे मै अभी कुछ कहना नही चाहता। आचार्य कालूगणी के समय यह प्रश्न उभरा। आचार्यवर के पदासीन होने के बाद अनेक वर्ष तक यह बोल प्रखरता से चर्चित हुआ। चर्चा के पश्चात आचार्यश्री ने इस तथ्य को स्वीकृत करते हुए घोषणा की—यह बात ठीक है कि आयु टूट सकती है, अकाल मृत्यु हो सकती है। इस घोषणा के बाद मुनि भीमराजजी का मौन खुला। उन्होने इस सदर्भ मे सारे तथ्य स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किए। एक व्यक्ति का विचार पूरे सघ का विचार बन गया।

अवकाश चितन का

सघ मे अनेक ऐसे समझदार मुनि हो सकते है, जो नई नई बातो को खोज सकते हैं। जब तक वह सघ द्वारा मान्य नही होती तब तक उसे व्यापक क्षेत्र मे प्रसारित करने का अधिकार नही मिलता इसीलिए विचार की एकसूत्रता का सिद्धात तेरापथ मे निरतर चलता रहा है और आज के युग मे इसका महत्त्व अधिक बढ गया है। आज का युग वैचारिक स्वतत्रता का युग है। विचार की स्वतत्रता, बुद्धि का विकास, चितन की क्षमता को रोकने या कठित करने की जरूरत नही है। खूब सोचा जाए, विचारा जाए और निष्कर्ष निकाले जाए किंतु उन निष्कर्षों को प्रसारित करने से पूर्व आचार्य के सामने उन्हे प्रस्तुत कर दिया जाए। आचार्य उस पर विचार करें, सघ के साधु-

साध्विया चर्चा करें, तत्त्वज्ञ श्रावक-श्राविकाओ का मत जाना जाए, उस सदर्भ में उठ रहे प्रश्नो का विश्लेषण किया जाए, यह सब कुछ होने पर आचार्य उसे स्वीकार कर सकते हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है—आचार्य को विचार उचित लगता है, वे उसे मान्य कर लेते हैं पर साथ-साथ उसे प्रस्तुत करने का उचित अवसर नही मानते हैं तो वह विचार 'थाप्य' ही रहता है।

विचार : संघीय बनने की प्रक्रिया

तेरापथ में किसी विचार या चिंतन को सघीय रूप देने की एक प्रक्रिया है। जब चर्चा के लिए कोई नया बोल या विचार प्रस्तुत होता है तब आचार्य उस पर चर्चा के लिए दस-बीस प्रबुद्ध साधु-साध्वियो की नियुक्ति कर देते हैं। प्राय मर्यादा महोत्सव के अवसर पर प्रबुद्ध साधु-साध्वियो की सगीति में नए उभरे हुए प्रश्न चर्चित होते हैं। प्रबुद्ध साधु-साध्विया उन प्रश्नो पर चिंतन-मथन करते हैं और उनका जो एक निष्कर्ष आता है, उसे आचार्य के सामने प्रस्तुत कर देते हैं। जिन निष्कर्षों को स्वीकृति मिल जाती है, उनकी घोषणा कर दी जाती है। अनेक निष्कर्ष ऐसे भी होते हैं, जिन्हे कुछ और चिंतन के लिए छोड दिया जाता है। उन्हे व्यवहार मे नही लाया जाता, सामूहिक मान्यता नही दी जाती। इस सारी प्रक्रिया से निकल कर जो विचार सबके सामने निर्णीत रूप मे घोषित होता है, वह सघ के प्रत्येक व्यक्ति का विचार बन जाता है।

वैचारिक आचार-संहिता का हृदय

विचार का क्षेत्र बहुत उलझा हुआ है। सभवत आचार से भी ज्यादा जटिल है विचार का क्षेत्र। मनुष्य के दिमाग मे न जाने कितने तूफान उठते है। चिंतन का भी बहुत अह होता है। व्यक्ति सोचता है—मेरा इतना अच्छा विचार था फिर भी उसे माना नही गया। यह दावा भी किया जाता है—यदि मेरा विचार माना जाता तो समस्या सुलझ जाती। कुछ लोग दूर बैठे-बैठे ही अपने विचारो को भेजते रहते है। विचार भेजना, विचार प्रस्तुत करना बहुत अच्छी बात है किन्तु उसका मान्य होना या न होना एक अलग प्रश्न है। हम इन दोनो को एक न माने। अपना विचार प्रस्तुत करें पर उसे सब कुछ मानने का आग्रह न करे। दूसरे के विचार को सुने किन्तु उसे सर्वथा अस्वीकार न करे—यदि ऐसा होता है तो वैचारिक अनाग्रह की दिशा उद्‌घाटित हो जाती है। विचार के क्षेत्र मे आचार्य भिक्षु ने जो आचार-सहिता दी, उसका हृदय यही है।

संघ में वही रहे

जो सास लेता है, उसका जीवन चलता है। जब तक सास है, तब तक जीवन है। जीवन का चलना एक सामान्य प्रकृति और नियति है, किन्तु जीवन को चलाना एक समझदारी की बात है। जीवन को कैसे चलाए? अकेला जीए या कुछ लोगो को साथ लेकर जीए। यह अपना निर्णय है, नियति का नही। हमने निर्णय किया है— साथ मे जीना है, सघ मे जीना है। जितने साधु-साध्विया हैं, उन्होने सबसे पहले यह निर्णय लिया—साधु बनना है और सघ मे जीना है। इस निर्णय के साथ सघ मे प्रवेश किया है। यह सिद्धात का जीवन है।

आधार है सिद्धान्त

जहा नियति की बात है वहा सब सहज चलता है और जहा सिद्धात होता है वहा व्यक्ति सिद्धात के साथ चलता है। आज का युग कम्पनियों का युग है। हिन्दुस्तान में भी बहुत बडी कम्पनिया बन गईं। यूरोप और अमेरिका जैसे देशो मे भी सैकडो वर्षों से कम्पनिया चल रही हैं। कपनियो का मतलब ही है एक साथ काम करना। पर उसके साथ सिद्धान्त होता है, कुछ शर्तें होती हैं। सिद्धात के आधार पर वे कपनिया चलती हैं। सिद्धात के बिना एक दिन भी उनका काम नही चल सकता। यदि कोई कपनी बनाए और उसके सिद्धान्त स्पष्ट न हो तो वह एक दिन भी नही चल सकती। उनका निश्चित सिद्धात होता है और सिद्धात पर आदमी चलता है। हम साथ मे जी रहे हैं, सात सौ साधु-साध्विया है। नियति से नही जी रहे हैं। कोई कही से आया है और कोई कही से आया है। अलग-अलग स्थानो से आकर मिले हैं और एक सिद्धात के साथ जी रहे है। हमारे सामने सबसे पहले सिद्धात हैं और वह सबको एक साथ रख रहा है।

समान है आधार

प्रश्न हो सकता है— सिद्धात क्या है और उसके पीछे सूत्र क्या है? आचार्य भिक्षु ने इस बात पर बहुत ध्यान दिया। उन्होने साथ मे जीने के लिए एक ऐसा कम्यून बनाया, जो सिद्धात के साथ जीए। ऐसा नही है— कोई इधर से आ गया और कोई उधर से आ गया —सब मिलकर अपने-अपने ढग से जीते रहे। कही की ईंट, कही का रोडा, भानुमति ने कुनबा जोडा— ऐसा सघ चल नही सकता, टिक नही सकता, चिरजीवी और स्वस्थ नही

रह सकता। आचार्य भिक्षु ने कहा—देखो! साधु बने हो, पाच महाव्रत पालना है। एक साधु को पाच महाव्रत पालना है तो दूसरे को भी पाच महाव्रत पालना है। आधार सबका समान होगा। जब आचार और विचार समान है तब शेष क्या बचता है? आचार एक जैसा है, विचार भी एक जैसा है और गुरु भी एक है। इस स्थिति मे एक बात शेष रह जाती है और वह यह है—साथियो के साथ कैसा व्यवहार किया जाए? आचार्य भिक्षु ने कहा—जो गण के साधु-साध्वियो मे साधुपन सरधे, अपने आपमे साधुपन सरधे वह गण मे रहे, छलकपट पूर्वक गण मे रहने का त्याग है।

महत्त्वपूर्ण सूत्र

यह सूत्र कितना महत्त्वपूर्ण है—गण मे कौन रहे? जबर्दस्ती का प्रश्न ही नही है और बाधकर रखने का भी प्रश्न नही है। कुछ लोग ऐसा आरोप लगा देते है—हर किसी को साधु बना दिया जाता है, भोले-भोले लोग फस जाते है और उन्हे फिर बाहर जाने का मौका नही मिलता। आचार्य भिक्षु ने इस प्रश्न पर बहुत विचार किया—गण मे कौन रहे? यह खोज का विषय है कि क्या किसी अन्य आचार्य ने अपने विधान मे 'गण मे कौन रहे' इस प्रश्न पर गभीरता से विमर्श किया है? जबर्दस्ती की तो बात ही नही है। 'वही व्यक्ति गण मे रहे अन्यथा गण मे न रहे'—इस वाक्य से न रहने का निर्देश फलित होना है। जो अपने आपमे साधुपन सरधे, गण के साधु-साध्वियो मे साधुपन सरधे, वही गण मे रह सकता है। गण मे रहने वाला यह अनुभव करे—जो गण मे साधु-साध्विया है, वे सब साधु-साध्विया है। अगर यह लगे—मै तो साधु हू और अमुक साधु नही है, अमुक मे साधुपना नही है तो उसे गण मे रहने का अधिकार नही है। जिसे अपने साथियो का भरोसा नही है, अपने साधुओ का भरोसा नही है, वह गण मे कैसे रहेगा? यदि वह गण मे रहेगा तो क्या निहाल करेगा? वह खतरा ही पैदा करेगा।

सबसे पहली बात है—अपने आपमे भरोसा, अपने साथियो मे भरोसा और अपने नेता मे भरोसा। यह भरोसा होता है तो साथ मे रहने की बात की जा सकती है। जब भरोसा ही नही होगा तो कैसे साथ निभेगा? कैसे सघ चलेगा?

शंका और जिज्ञासा

काकरोली की घटना है। आचार्य भिक्षु एक पोली मे ठहरे हुए थे। उसमे एक छोटी खिडकी थी। आचार्य भिक्षु उसे खोलकर बाहर गए। मुनि हेमराजजी ने कहा—महाराज! आपको यह खिडकी खोलनी है क्या? आचार्य भिक्षु बोले—हेम! तुम्हारे मन मे यह शका कैसे पैदा हो गई?

मुनि हेमराजजी ने निवेदन किया—गुरुदेव ! मन मे शका पैदा नही हुई पर प्रश्न पैदा हो गया था ।

शंका होना अलग बात है और जिज्ञासा होना अलग बात है ।

मुनि हेमराजजी ने कहा—गुरुदेव ! मैने जानकारी की दृष्टि से पूछा है । मेरे मन मे आपके प्रति कोई शका नही है ।

हम इस अतर को समझे—आचार्य के प्रति और सघ के साधु-साध्वियो के प्रति शका का होना अलग बात है और प्रश्न का होना अलग बात है । जिज्ञासा हो सकती है, आशका नही होनी चाहिए । जब अपने साथियो के प्रति भरोसा नही होता तब मुनि कैसे साधना कर सकता है और कैसे गण मे रह सकता है ?

स्वप्न वैशाली को जीतने का

जहा एक साथ जीने वालो मे, एक साथ रहने वालो मे एक दूसरे के प्रति शका का वातावरण होता है वहा सारी व्यवस्थाए गडबडा जाती है । वैशाली गणराज्य का पतन क्यो हुआ ? शका के कारण ही ऐसा हुआ । एक दूसरे के प्रति शका पैदा कर दी गई । वैशाली गणराज्य बहुत शक्तिशाली था । उसे जीतना कोणिक के वश की बात नही थी । सम्राट् कोणिक वैशाली को परास्त नही कर पा रहा था । वह किसी भी कीमत पर वैशाली को जीतना चाहता था । उसने अपने पुराने मत्री से मत्रणा की । मत्री ने कहा - मै वैशाली जाता हू । आप यह घोषणा करवा दे—मत्री को देश से निर्वासित कर दिया गया है । बस, और आपको कुछ नही करना है । जब मैं वहा से सूचना भिजवाऊ तब आप आक्रमण कर देना । आपकी विजय निश्चित है । राजनीति भी बडी विचित्र होती है । मत्री चला गया, देश निष्कासन की घोषणा हो गई ।

संदेह का वातावरण

राजनीति मे यह चलता है—एक राजा किसी को निर्वासित करता है तो दूसरा राजा उसका स्वागत करने के लिए तैयार रहता है । वैशाली के राजा ने मत्री का स्वागत ही नही किया, अपने यहा नियुक्ति भी दे दी । उसका सबसे परिचय कराया गया । परमार्थ से भी परिचय करना होता है तो स्वार्थ से परिचय क्यो नही होता ? मन्त्री को अच्छी तरह परिचय हो गया, साख जम गई । भरोसा और विश्वास हो गया । वह बुद्धिमान् और चतुर तो था ही । उसने वैशाली के सामन्तो मे एक दूसरे के प्रति सदेह का वातावरण पैदा कर दिया । इधर मगध की सेना ने आक्रमण कर दिया । वैशाली गणतत्र की रणभेरी बज उठी ।

सैनिकों की उदासीनता

वैशाली गणतन्त्र का नियम था—जैसे ही रणभेरी बजती, सब सामंत युद्ध के लिए तैयार होकर निकल पडते। रणभेरी बजी पर कोई भी सामने नही आया। राजा विस्मय से भर गया, सोचा, बात क्या है ? अमुक सैनिक नही आया ? अमुक योद्धा नही आया ? कारण क्या है ? कारण का पता चला। सेनापति ने कहा—महाराज ! युद्ध मे मैं क्यो जाऊ ? युद्ध मे वह जाएगा, जो शूरवीर है। मुझे तो कायर बताया जा रहा है। किसी का सवाद आया—मुझे तो लाछित किया जा रहा है, मैं क्यो युद्ध करू ? एक सामत ने कहा—मुझ पर तो भूत का आरोप लगाया जा रहा है। मत्री ने सबके मन मे सदेह पैदा कर दिया था। वह जगह-जगह जाता और कहता—तुम तो यह समझते हो—मैं वैशाली गणतन्त्र का स्तम्भ हू। तुम्हारे बारे मे वैशाली का प्रमुख कहता है—तुम बडे कायर आदमी हो। तुम यह बात किसी से मत कहना और यदि किसी से कहो तो भी मेरा नाम न आए। तुम बडे अच्छे आदमी हो इसलिए मैंने तुम्हारा भरोसा कर यह तथ्य बता दिया है। मत्री ने किसी सामंत से कहा—तुम्हारे चरित्र पर लाछन है। तुमने ऐसे गलत काम किए है। तुम्हारे बारे मे तो ऐसी गलत धारणाए हैं। तुम बदनाम किए जा रहे हो। पर देखो, मेरा नाम न लेना, किसी को कहना मत।

पराजय का जाल

ऐसा चक्र फैलाया—जितने भी वैशाली गणतत्र के प्रमुख थे, सबको आकठ सदेह से भर दिया। जब युद्ध का प्रसग आया, सारे सैनिक प्रमुख पीछे खिसक गए। यह कहा जाता था—वैशाली गणतत्र को पराजित करना मानो देवताओ को हराना है। वहा यह परिस्थिति बन गई—कोई युद्ध के लिए आगे नही आया। मगध की सेना आई और बिना प्रतिरोध के नगर मे प्रवेश कर गई। वैशाली गणतन्त्र पराजित हो गया।

यह सारा वातावरण क्यो बना ? इसका कारण था साथियो के प्रति विश्वास का समाप्त होना।

छलकपट पूर्वक गण मे न रहे

आचार्य भिक्षु ने कितना महत्त्वपूर्ण सूत्र दिया—गण मे साधु-साध्वियो मे साधुपन सरधे, वह गण मे रहे। जो साधु-साध्वियो मे साधुपन न माने, वह गण मे न रहे। दूसरी बात है—जो अपने आपमे साधुपन सरधे, वह गण मे रहे। मुनि धोखा न दे—आजकल तो ऐसे ही चलता है। हम फस गए है इसलिए बैठे है ? यह भी बडा धोखा है। जिसे यह भरोसा नही है कि मै साधु हू, उसे गण मे रहने का अधिकार नही है। आचार्य भिक्षु ने अपनी शुद्ध नीति के द्वारा बहुत साफ बात कही—छलकपट पूर्वक गण मे न रहे। बहाने-

बाजियो के साथ गण मे न रहे। पहले बहानेबाजिया करता है और बाद मे जब सघ से अलग होता है तब सारी बातें उलझती हैं। कितने छलकपट, कितने आरोप-प्रत्यारोप और दोषारोपण करता है। सघ मे यह नहीं था और वह नही था इसलिए मुझे सघ छोडना पड़ा। यह एक ऐतिहासिक सच है—जो छोडता है, वह ऐसे ही नही छोडता, कोई न कोई आरोप लगाकर ही गण छोडता है। उसे छलकपट का सहारा लेना पडता है।

पादरी का बहाना

एक पादरी गाव से सतुष्ट नही हुआ। वह गाव मे नही जमा। उसने पक्का निर्णय कर लिया—गाव को छोडना है। गाव की सभा जुडी। पादरी महाशय ने कहा—मैं इस गाव को छोडकर जा रहा हू।

क्यो जा रहे है ?

पादरी बोला—इस गाव ने मुझसे प्रेम नही किया, इसलिए जा रहा हू।

कैसे प्रेम नही किया ?

आपने मेरी आजीविका के लिए कुछ नही दिया इसलिए छोडकर जा रहा हू। आप मुझसे ही क्या, आपस मे ही प्रेम नही करते इसलिए छोडकर जा रहा हू। आज तक आपने एक भी शादी कराने का मुझे अवसर नही दिया इसलिए गाव छोडकर जा रहा हू। और क्या ? आपसे परमात्मा भी प्रेम नही करता है। आज तक एक को भी दफनाने का मुझे मौका नही दिया इसलिए मै इस गाव से जा रहा हू। न तो आप मुझसे प्रेम करते हैं, न आप आपस मे प्रेम करते हैं और न परमात्मा आपसे प्रेम करता है। इसलिए मैं आपको छोडकर जा रहा हू।

यह बहाना है, छलकपट है। गाव मे रहना नही था और छोडने के लिए बहाना बना लिया। यह तब होता है जब अपने आपमे भरोसा नही होता, अपने साथियो मे भरोसा नही होता।

सन्देह की मनोवृत्ति · परिणाम

आचार्य भिक्षु का यह सूत्र कितना महत्त्व का है—गण मे वह रहे, जिसका अपने आपमे भरोसा हो। उन्होने कहा—'जिसका मन साक्षी दे, भलीभाति साधुपन पलता जाने तथा अपने आप मे साधुपन माने, वह गण मे रहे। किन्तु वचनापूर्वक गण मे न रहे।'

मुनि चन्द्रभानजी आचार्य भिक्षु के पास आए। वे आचार्य भिक्षु से बोले— यह ठीक नही है, वह ठीक नही है। साधुपन कहा पलता है ? मेरे मन मे तो शका है। ऐसा विश्वास नही है कि साधुपन पलता है। काफी बातें की।

आचार्य भिक्षु ने कहा—देखो ! गण को छोडकर रहना ठीक नहीं और शंका सहित गण में रहना भी ठीक नहीं ।

चन्द्रभानजी ने पूछा—फिर क्या करें ?

आचार्य भिक्षु ने कहा—मार्ग यह है कि अब सलेखना-सथारा करे।

सलेखना-सथारा मैं तब करू जब भारमलजी मेरे साथ करें ।

भारमल क्यो करे ? मैं करता हू तुम्हारे साथ । मैं भी करू और तुम भी करो ।

किसको सथारा करना था ? चद्रभानजी को मात्र सन्देह ही सन्देह था । इस सशयी मनोवृत्ति के कारण वे सघ मे टिक नही पाए, सघ से अलग हो गए ।

बहाना काल का

यह स्वीकार करना चाहिए कि जैन शासन मे एक पक्ष कुछ कमजोर रहा है । प्राचीन ग्रन्थो मे मिलेगा—अब यह काम नही हो सकता, अब ध्यान नही किया जा सकता । अब वैसे सहनन-शारीरिक सस्थान नही रहे । अब साधुपन नही पाला जा सकता । इस प्रश्न को लेकर बडा विवाद चला है और यह विवाद हजार-पन्द्रह सौ वर्ष पहले से आ रहा है । कहा गया—अब साधुपन नही पाला जा सकता । प्रश्न आया- क्यो ? उत्तर दिया गया—यह काल का प्रभाव है । जमाना ही कुछ ऐसा आ गया है कि साधुपन पूरा नही पल सकता । यह काल का एक बनाना मात्र है ।

कौनसा काल अच्छा है ?

अनेक लोग इस भाषा मे सोचते है—अब कलिकाल आ गया है, इसलिए ऐसा हो नही सकता । कौन-सा काल ऐसा है, जिसे अच्छा माने । अगर प्राचीन इतिहास को देखे तो यह निर्णय करने मे कठिनाई होगी—राम का काल, महाभारत का काल, महावीर और बुद्ध का काल, आज के काल से अच्छा था । यह सिद्ध करने के लिए बहुत सोचना पडेगा, काफी प्रमाण जुटाने पडेगे । वह युग किसी भी अर्थ मे अच्छा था, यह मानने मे बडा कष्ट होता है । एक भी बुराई आज सामने नही आती, जो उस समय नही थी । उदडता को ले, उच्छृखलता और अनुशासनहीनता को ले । ढाई-तीन हजार वर्ष पहले भी वह शायद कम नही थी । सामाजिक बुराइयो को ले तो वे भी कम नही थी । साधु जीवन मे भी शिथिल होने वाली घटनाओ को ले तो शायद वे भी कम नही थी । एक मुनि मुनित्व को छोडकर वर्षों तक वेश्या के घर रह जाता और पुन दीक्षित हो जाता । आज ऐसा हो तो बडी कठिनाई हो जाए । ऐसी घटनाए उस जमाने मे हुई हैं । आज न हो तो अच्छा है ।

शाश्वत है प्रवृत्ति

वह जमाना था जिसमे न कोई पेम्पलेटबाजी होती थी, न पर्चेबाजी

होती थी और न सचार के इतने द्रुत साधन थे। आज छोटी-सी बात के लिए क्या-क्या नही किया जाता और बात का बतगड बन जाता है। विरोध करने वाले यह भी नही सोचते--दो हजार वर्ष पहले क्या-क्या होता था ? कौन-सा ऐसा काल रहा है, जिसे बिल्कुल सतयुग मान लें। या ऐसा कौन-सा काल है, जिसे बिल्कुल कलियुग मान ले। मनुष्य की प्रकृतिया शाश्वत हैं, अच्छाइया शाश्वत हैं, दुर्बलताए भी शाश्वत है। दुर्बलताए भी चलती हैं और अच्छाइया भी सदा चलती हैं। पराक्रम और पौरुष भी चलता है, शुद्ध नीति भी चलती है। ये दोनो धाराए चलती हैं और चलती रहेगी। एक भी युग ऐसा नही आएगा, जिस दिन ससार सोलह आना अच्छा बन जाएगा या सोलह आना बुरा बन जाएगा। ऐसा होगा तो ससार रहेगा ही नही। दोनो विरोधी बातें रहेगी, उसका नाम है ससार और दोनो बाते नही रहेगी तो उसका नाम मोक्ष होगा।

साधुपन है महाव्रत की चेतना

हमे इस प्रश्न पर सोचना है। यह जो शका की मनोवृत्ति बन जाती है—आज तो साधुपन पल नही सकता—इसका कारण क्या है ? हमने साधुपन को छोटी-छोटी बातो के साथ अटका दिया। साधुपन है हमारी चेतना की निर्मलता। साधुपन है महाव्रत की चेतना। महाव्रत की चेतना का नाम है साधुपन। खिडकी खोलना या न खोलना, इसमे साधुपन अटक गया तो साधुपन कभी होगा ही नही। सम्भव ही नही है, कठिन भी है। हम कठिनाई को देखे। आज शहरो का सिस्टम यह हो गया—हर फ्लेट का दरवाजा बन्द रहता है। राजस्थान मे यह असम्भव है—साधु गोचरी जाएगा तो दरवाजा खुला मिल जाएगा, कोई भावना भाने वाला भी मिल जाएगा। शहरो मे यदि दरवाजा खुला मिल भी जाए तो साधु से पहले और भी कई प्रकार के व्यक्ति उसमे प्रवेश कर जाएगे। शहरो मे कोई भी अपने घर का दरवाजा खुला नही रखना चाहता। आज परिस्थितिया बदली हुई हैं। बदली हुई परिस्थितियो के साथ हम साधुपन को जोड देते है तो फिर शका के लिए अवकाश ही अवकाश है। यह प्रश्न उभरता ही रहेगा—आज कैसे साधुपन रह सकता है ? यह क्रम बदल गया और वह क्रम बदल गया। यदि इन बातो मे शका करे तो इसका अर्थ होगा—एक ओर शका करते चले जाए, दूसरी ओर साधुपन को गवाते चले जाए ?

क्या है साधुपन ?

आचार्य भिक्षु ने कहा—भलीभाति साधुपन को पलता जाने, वह गण मे रहे। प्रश्न होता है—साधुपन है क्या ? स्वय आचार्य भिक्षु ने साधुपन की परिभाषा करते हुए कहा—पाच महाव्रत, पाच समिति और तीन गुप्ति की

सम्यग् आराधना ही साधुपन है। पाच महाव्रत की आराधना है, वह हमारी अहिंसा की चेतना है, सत्य और अस्तेय की चेतना है, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की चेतना है। उसका विकास करना है। इस दिशा मे तो कोई नहीं देखता। केवल ऊपर के जो सामाजिक नियम हैं, उस पर सारी बात अटक जाती है। शायद इसीलिए मुनि हेमराजजी के मन मे यह प्रश्न उभरा होगा और आचार्य भिक्षु के मन मे वितर्क आया होगा। मुनि हेमराजजी जैसे आचार्य भिक्षु के शिष्य के मन मे आचार्य भिक्षु के एक खिडकी खोलने मे एक सदेह पैदा हो सकता है। इसके दो पहलू हैं। एक पहलू है—सतर्कता या जागरूकता। दूसरा पहलू है—शकाशीलता। सतर्क होना बहुत अच्छी बात है पर सदिग्ध मस्तिष्क वाला होना, शकाशील होना खतरे की बात है। ऐसे सदेहशील व्यक्ति कहते है—अरे भाई! क्या करे? आचार्य ने ये सारी बातें खोल दी, करनी तो पडती है पर किसे कहे? माइक मे भी बोलते हैं, कपडा भी धोते हैं, सारा कार्य करते हैं।

सामयिक व्यवस्था के नियम

वस्तुत ये साधुत्व के नियम नही है, हमारी सामयिक व्यवस्था के नियम हैं। आज भी बहुत बातो मे सदेह हो सकता है। आज कोई साधु गोचरी जाए। गृहस्थ के घर घिलोडी (घी रखने का बर्तन) पडा है। गृहस्थ ने कहा—महाराज! घी बहरो! वह मुनि सीधा रसोई मे जाए, घिलोडी को उठाए और पात्रों मे उतना घी ले ले, जितनी घी की उसको आवश्यकता है। क्या वह ऐसा कर सकता है? यदि ऐसा कोई करे तो साधु तो बाद मे पहुचेगा और शिकायत पहले। लोगो मे शका पैदा हो जाएगी—यह कैसा व्यवहार? क्या ऐसा करना कल्पता है? किन्तु आचार्य भिक्षु के जमाने मे ऐसा होता था। यह मान्य था—साधु गोचरी जाता, कोई गृहस्थ घी बहराता तब साधु सोचता—गृहस्थ घी ज्यादा बहरा देगा तो क्या करूगा। साधु गृहस्थ से कहता—तुम क्या करोगे! वह घिलोडी को उठाकर अपने पात्र मे स्वय उतना घी ले लेता, जितना उसे जरूरी होता। यदि आज ऐसा करे तो शका पैदा हो जाएगी—कैसा साधु है?

अतीत का प्रसंग

साधु गोचरी के लिए गया। गृहस्थ को बहराना है। मुनि देखता है—रसोई मे हरियाली बिखरी हुई है। एक ओर एक बर्तन मे रोटिया पडी हैं, दूसरी ओर सचित्त वनस्पति है। मुनि सोचता है—गृहस्थ रोटी बहराएगा। यदि वह यतना से नही जाएगा, देखकर नही जाएगा तो घर असूझता हो जाएगा। मुनि कहता—तुम बाहर ही रहो। साधु स्वय रसोई मे जाता और रोटी, सब्जी आदि बाहर लाकर रख देता। उसके बाद मुनि गृहस्थ से कहता—अब तुम बहरा दो।

यह बात आज हास्य का कारण बन सकती है किन्तु अतीत मे ऐसा होता था।

क्या आज ऐसा हो सकता है ?

गोचरी से जुडी एक और घटना है। मुनि गोचरी के लिए गया। उसने देखा—गृहस्थ का हाथ साफ नही है। गृहस्थ ने निवेदन किया—महाराज ! मेरा हाथ साफ नही है, मैं हाथ धो लेता हू।

सन्त ने पूछा—कहा धोओगे ?

'यह नाली है। इसमे धो लूगा।'

'नाली मे धोओगे तो कल्पेगा नही।'

'और स्थान ही नही है, कहा धोऊ ?

साधु गृहस्थ को अपना पात्र देता। गृहस्थ मुनि के पात्र में हाथ धोता साधु पानी को यतना से नीचे परिष्ठापित कर पात्र को साफ कर लेता। उसके बाद मुनि श्रावक के हाथ से गोचरी कर लेते।

बदलते हैं व्यवस्था के नियम

यदि आज मुनि ऐसा करे तो शका पैदा हो जाएगी। कैसे महाराज है ? क्या काम शुरू कर दिया ? एक नही, पचास बातें ऐसी हैं, जो पहले चलती थी, किन्तु आज प्रचलित नही हैं। आज कोई मुनि गृहस्थ से कैंची लाया, सूई लाया। उसे बारह मास उसी गाव मे रहना है। वह बारह मास उसे रख लेता है और विहार करते समय वापस मूल मालिक को सभला देता है। प्रश्न है—क्या वह आज ऐसा कर सकता है। पुराने जमाने मे ऐसा करना विहित था। आज ऐसा करना नियम विरुद्ध है। आज नियम हो गया—सुबह लाए तो शाम को वापस कर दे। ये सारे व्यवहार के नियम है और समय-समय पर बदलते रहते है। इन बातो को लेकर कोई शकाशील बनता है, वह भटक जाता है।

आस्थाशील बनें, शकाशील नही

हम आचार्य भिक्षु की इस बात को हृदय मे प्रतिष्ठित करे—शका से सघ मे नही रहना है, दिमाग को साफ रखना है।

एक शुद्ध साधुत्व है और एक व्यवहार है। शुद्ध साधुत्व मे आस्था रहे, सामयिक नियमो के परिवर्तन पर शकाशील न बने। जो मुनि इस आस्था मे नही जीता, उसके मन मे सदा शका का शूल चुभता रहेगा। शका का शूल जिसके हृदय मे चुभता रहता है, वह कैसे साधुपन पालेगा ? साधुपन सदेह से नही, दृढ़ आस्था से पाला जा सकता है। 'जिसमे आस्था और विश्वास नही है, वह सघ मे न रहे', आचार्य भिक्षु का यह वाक्य तेरापथ की प्रगति का आधार बना हुआ है। हम इसका मूल्याकन करे। साधना, साधुत्व और सघ तेजस्वी बनता चला जाएगा।

व्यवहार कैसा हो ?

जहा सगठन है वहा अनेक पहलुओ से विचार करना होता है। साधु-सस्था मे प्रवेश का मार्ग एक है किन्तु उससे निर्गमन के प्रकार दो होते है। प्रवेश और निर्गमन के बीच मे है सगठन। साधु सस्था मे दीक्षित होने का एक ही प्रकार है लेकिन जाने का प्रकार एक नही है। एक प्रकार है—खडे-खडे आते हैं और लेटे-लेटे जाते हैं। दूसरा प्रकार है– खडे-खडे आते हैं और खडे खडे चले जाते है। यह माना जाता है– जो खडे-खडे आए है और लेटे-लेटे गए हैं, वे कृतकृत्य होकर गए हैं। यह प्रसिद्ध कहावत है—खडे-खडे आए है और लेटे-लेटे जाएगे। जहा व्यक्ति खडा आता है और आडा जाता है वहा व्यवहार का प्रश्न नही है। व्यवहार का प्रश्न वहा होता है, जहा व्यक्ति खडे-खडे आता है और खडा-खडा ही चला जाता है। इस स्थिति मे प्रश्न होता है—हमारा व्यवहार कैसा हो ? जैसा व्यवहार सगठन के भीतर रहने पर होता है क्या वैसा ही व्यवहार सगठन से अलग होने पर होना चाहिए ? ऐसा होना सभव नही है। यदि ऐसा हो तो सगठन का अर्थ ही क्या रह जाएगा ?

घटना के साथ जुड़ा है व्यवहार

प्रत्येक घटना के साथ व्यवहार बदलता है। प्रवृत्ति बदले और व्यवहार न बदले—यह सभव नही है। क्या इतना अधेरा हो सकता है कि प्राण है तो भी व्यक्ति वैसा ही है और प्राण निकल जाए तो भी वैसा ही है ? यदि ऐसा हो तो समाज मुर्दा समाज बन जाएगा। वह जीवित समाज नही रह पाएगा। एक व्यक्ति आज सगठन मे है और कुछ समय बाद उससे अलग हो गया। इस स्थिति मे क्या उसके साथ व्यवहार होना चाहिए ? आचार्य भिक्षु ने तेरापथ सगठन के सदर्भ मे इस प्रश्न पर बहुत विचार किया। यदि जैसा व्यवहार पहले था वैसा ही बाद मे रहेगा तो सगठन चलेगा ही नही। इस स्थिति मे यह प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण बन जाता है। जो अच्छे सगठन हैं, उनके लिए इस बारे मे सोचना बहुत जरूरी है। इस सदर्भ मे आचार्य भिक्षु ने एक बहुत सुचिन्तित व्यवहार की सहिता का निर्माण किया।

वीतरागता का सूत्र

तेरापथ धर्मसघ वीतराग की साधना का धर्मसघ है। यह लडाई-झगडा या राग-द्वेष बढाने का सघ नही है। हमे वीतरागता की ओर जाना है। यही हमारा लक्ष्य और उद्देश्य है। तेरापथ की कोई भी व्यवहार-सहिता या आचार-

संहिता होगी, उसके सामने सदा वीतरागता का सूत्र रहेगा।

आचार्य भिक्षु ने एक मर्यादा दी—कोई व्यक्ति गण से अलग हो जाए तो वह श्रद्धा के क्षेत्र मे न रहे। जिस क्षेत्र मे संघ के श्रावक रहते हैं, वहा न रुके। कुछ लोगो ने प्रश्न उठाया—यह कैसा नियम ? यह नियम क्यो ? क्या कोई कमजोरी है ? आचार्य भिक्षु ने कहा—मैंने यह जो नियम बनाया है, उसका उद्देश्य है—राग-द्वेष न बढे। यह स्पष्ट है—जो गण से अलग हुआ है, वह गण की उतरती बात करेगा, उसमे गलतिया और खामिया बतायेगा। वह यह कहेगा—सारे सघ मे शिथिलाचार चल रहा है, सघ निकम्मा है, इसमे कुछ नही है। मैं ही उत्कृष्ट साधु हू ? मैं ऐसे सघ मे कैसे रह सकता हूं ?

जो श्रावक हैं, सघनिष्ठ हैं, उन्हे यह बात अच्छी नही लगेगी। वे उसका प्रतिवाद करेंगे। इस स्थिति मे राग-द्वेष मे वृद्धि होगी। धर्म का उपकार घटेगा और कलह बढेगा। इस वास्तविकता को ध्यान मे रखकर आचार्य भिक्षु ने यह मर्यादा की—सघ से पृथक् होकर साधु श्रद्धा के क्षेत्र मे न रहे। दुनिया बहुत बडी है। कही कोई कमी नही है। वह जहा चाहे रह सकता है किन्तु निकलने वाला व्यक्ति प्राय इस मर्यादा का भी अतिक्रमण कर देता है। उसे श्रद्धा के क्षेत्र मे रहे बिना आनद ही नही आता। कितना बडा ससार पडा है ! किन्तु वह उन्ही लोगो के बीच रहना चाहता है। जिस सघ मे वह रहा है, उसे तोडना चाहता है।

अब साधना करूंगा

कुछ सन्त सघ से अलग हुए। उन्होने सघ को तोडने की बहुत चेष्टाए की पर वे सफल नही हुए। एक व्यक्ति ने पूछा—महाराज ! अब आप क्या करेंगे ? उन्होने कहा- भाई ! इतने दिन झगडा-झझट करके देख लिया। इसमे कुछ लाभ दिखाई नही देता। मैं इन सबको छोडकर एकात साधना करूगा। उस भाई ने बहुत मार्मिक बात कही—महाराज ! यह बात पाच साल पहले ही सोच लेते तो ? पर आप उस समय कैसे मानते ? उस समय आप यह कहते थे—तुम देखना, सघ को तोडकर रहूगा। आप अहकार और गर्व के नशे मे चूर थे। आप नही बोलते थे, आपका अहकार बोलता था—देखना, क्या होगा ? अब आपके बात समझ मे आई है।

उसके बाद, पहले क्यों नहीं ?

सन्यासी ने सिकदर से पूछा—तुम क्या करोगे ?
सिकदर गर्व से बोला—हिन्दुस्तान को जीतूगा।
उसके बाद ?
पूरे विश्व को जीतूगा ?

विश्व-विजयी बनने के बाद क्या करोगे ?

शाति से जीऊगा ।

सन्यासी ने कहा—इतने युद्ध करोगे, लाखो लाखों लोगो को मारोगे, अपने अधीन बनाओगे और फिर शाति से जीवन जीओगे । यदि शाति का ही जीवन जीना है तो अभी जी लो । उसके लिए इतनी हिंसा और युद्ध क्यो कर रहे हो ?

यह बात पहले समझ में नही आती ।

संविधान की धाराएं

आचार्य भिक्षु इस मानवीय दुर्बलता से परिचित थे । उन्होने सघ से बहिष्कृत होने वाले व्यक्ति के सन्दर्भ मे जो मर्यादाए दी, वे बहुत मूल्यवान हैं। सविधान का मूलपाठ यह है—

"कोई साधु-साध्वी क्रोधादि वश आज्ञा और अनुशासन का पालन नही कर सकने पर अथवा अन्य किसी कारण से गण से अलग हो जाये अथवा किसी को अलग किया जाए तो किसी साधु-साध्वी का मन भग कर अपने साथ ले जाने का त्याग है । कोई जाना चाहे तो भी उसे साथ ले जाने का त्याग है । गण के साधु-साध्वियो की उतरती बात करने का त्याग है । अश-मात्र भी अवर्णवाद बोलने का त्याग है और छिपे-छिपे लोगो को शकाशील बना, गण के प्रति अनास्था उपजाने का त्याग है । तथा वस्त्र, पात्र, पुस्तक-पन्ने आदि गण के होते हैं, इसलिए उन्हे अपने साथ ले जाने का त्याग है ।"

कारण अलग होने का

गण से अलग होने का एक कारण है—प्रकृति की उग्रता । जिसकी प्रकृति तेज होती है, जो किसी के साथ सामजस्य नही बिठा पाता, किसी बात को सहन नही कर सकता, बात बात पर झगडा करना शुरू कर देता है, उस व्यक्ति का सघ मे निभना मुश्किल हो जाता है । वह स्वय के लिए ही नही, दूसरो के लिए भी समस्या बन जाता है । ऐसा व्यक्ति क्रोध के वशीभूत होकर अपने आप अलग हो जाता है अथवा उसे अलग कर दिया जाता है ।

आचार्य भिक्षु के समय एक मुनि दीक्षित हुए । नाम था नाथोजी । पत्नी और पुत्रो को छोडकर उन्होने साधुत्व स्वीकार किया था । वे प्रकृति से बहुत तेज थे । बहुत कठिन है साधु बन जाने पर भी प्रकृति पर नियत्रण होना । वे अपनी प्रकृति को नियत्रित नही कर पाए । एक मुनि ने नाथोजी से कुछ कह दिया । नाथोजी आवेश से भर उठे । उन्होने कहा—मैं अब सघ मे नही रहूगा । सन्तो ने उन्हे समझाया लेकिन वे नही माने । संघ से अलग हो गए । सन्त आचार्य भिक्षु के पास आए । उन्होने निवेदन किया—गुरुदेव ! नाथोजी चले गए । आचार्य भिक्षु ने कहा—तुम बताओ, हाथ पर बडा फोडा हो गया

है, वह बडा कष्ट दे रहा है। अगर वह फूट जाए तो क्या होगा ? आराम होगा या कष्ट होगा ?

सन्त बोले—महाराज ! उससे शाति ही मिलेगा।

आचार्य भिक्षु ने कहा—नाथोजी का चले जाना कोई दु:ख की बात नही है। वह एक प्रकार से साधु के लिए फोडा बना हुआ था। उसका जाना सघ के स्वास्थ्य के लिए अच्छा ही है।

मुनि का दायित्व

कभी कभी व्यक्ति अपने आवेशवश चला जाता है और कभी किसी साधु को सघ से अलग करना पड जाता है। जो मर्यादा और आचार का सम्यग् पालन नही करता, उसे सघ से अलग कर दिया जाता है। एक मुनि आचार और मर्यादा का अतिक्रमण करता है, अवहेलना करता है उसके विपरीत आचरण करता है तो उसको साथ कब तक रखा जा सकता है। आचार और मर्यादा के प्रतिकूल चलने वाले को दो-चार बार समझाया जा सकता है, उसे अपनी गलती का अहसास कराया जा सकता है। इतना करने पर भी यदि व्यक्ति न सम्भले, न सुधरे तो क्या किया जाए ? इस स्थिति मे अलग करने के अलावा कोई विकल्प नही होता। सम्बन्ध आचार का है। आचार ही यदि न मिले, सम्यग् न रहे तो वह मुनि आचारनिष्ठ सघ मे किस काम का ? प्रत्येक मुनि का काम होता है सघ की शोभा बढाना। सघ की श्री बढे, शोभा बढे, साधुत्व की प्रतिष्ठा बढे, जनता मे सघ के प्रति आस्था बढे यह मुनि का दायित्व होता है किन्तु जो उससे विपरीत आचरण करता है, उसे अलग करना ही होता है।

बहिर्भूत व्यक्ति के साथ व्यवहार

व्यक्ति को अलग किया जाए या वह अलग हो जाए—ये दोनो स्थितिया हो सकती हैं। अलग हुआ व्यक्ति सघ का सदस्य नही है। इस स्थिति मे हम उसे क्या माने ? उसके साथ क्या व्यवहार करें ? आचार्य भिक्षु के इस सन्दर्भ मे अनेक निर्देश-सूत्र है—

१ उसे साधु न माना जाए।

२ चार तीर्थ मे न गिना जाए।

३ साधु मान वदना न की जाए।

साधु न मानें

पहली बात है—जो गण से अलग हो गया, उसे साधु न माने। प्रश्न हो सकता है—जो गण से अलग हो गया, वह साधु क्यो नही है ? एक मिनट पहले तक वह सघ मे था इसलिए साधु था और एक मिनट बाद वह गण से अलग हो गया इसलिए साधु नही रहा। जो एक मिनट पहले साधु था, वह

एक मिनट बाद साधु क्यों नही है ? इसका अर्थ यह है—साधुपन का अधिकार भी हमारे हाथ मे है। उसका प्रमाण-पत्र हमारे पास है। चाहे तो उसे साधु मानें और चाहे तो साधु न मानें। आज के चिन्तनशील और विचारशील युग मे यह प्रश्न झकझोरता है—ऐसा क्यो ? इसका समाधान क्या है ?

चार तीर्थ में न गिना जाए

आचार्य भिक्षु का इस सन्दर्भ मे जो दूसरा निर्देश है, उससे यह प्रश्न स्वत समाहित हो जाता है। हमारे धर्मसघ मे चार तीर्थ हैं—साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका। इसका अर्थ है—वह तेरापथ धर्मसघ का साधु नही रहा। उसकी सूची से उसका नाम कट गया। वह चार तीर्थ की गिनती मे नही आएगा। उसकी सघीय सदस्यता खत्म हो गई। वह श्रावक भी नही रहा। यदि वह वेश बदल ले, साधुवेश छोडकर गृहस्थ का वेश धारण करे, श्रावकपन पाले तो चार तीर्थ मे आ सकता है। साधुवेश मे रहे तो उसे चार तीर्थ मे नही गिना जा सकता।

समस्या वेश की

आजकल इस वेश के कारण अनेक समस्याए पैदा हो रही हैं। सन् १९८७ मे हम दिल्ली मे थे। कुछ लोगो ने कहा—महाराज ! तेरापथ के वेश मे कुछ लोग मोटरो मे घूम रहे हैं। यह अच्छा नही है। क्या आप उनका वेश छीन नही सकते ? मैने कहा—छीनना बहुत कठिन है। यह हमारे अधिकार की बात नही है। शायद सरकार के अधिकार की बात हो सकती है। यह विवेक अवश्य होना चाहिए—जिस सघ का सदस्य न रहे, उसके वेश का उपयोग न किया जाए। जिस पार्टी का सदस्य न रहे, उस पार्टी के चिह्न पर चुनाव न लडा जाए। यह नैतिकता की बात है। पहले जिस दल मे था, आज उसमे नही है। दलबदल करने वाला उसी दल के चुनाव चिह्न का उपयोग कैसे कर सकता है ? अपने अपने दल के चुनाव चिह्न पर ही चुनाव लडा जा सकता है। दूसरे के चुनाव चिह्न उपयोग करना नैतिकता के विरुद्ध है। यह प्रश्न उन व्यक्तियो के सोचने का है, जो सघ से अलग हैं। उन्हे यह सोचना चाहिए—जिस सघ के सदस्य नही रहे, उस सघ की वेशभूषा को काम मे कैसे ले ?

अनेक लोगो ने कहा—महाराज ! हम अपने मित्रो को बताते हैं—जैन मुनि मोटर मे नही चढते, रेल-यात्रा नही करते। वे पदयात्री होते हैं। यह धारणा भारतीय मानस मे जमी हुई है। आज हमारे साधु मोटरो मे घूमने लगे हैं। हमे यह सुनना पडता है—तुम कहते थे—जैन मुनि पदयात्री होते हैं। कहा हैं वे पदयात्री ? वे मजे से मोटरो मे घूम रहे हैं।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

यह वेश का प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण है। सन् १९८९ में बम्बई जैन

समाज में एक आंदोलन चला। कुछ जैन मुनि विदेश यात्रा पर जा रहे थे। जैन समाज के सभ्रांत लोगो ने कहा—ऐसा नहीं हो सकता। आप हिन्दुस्तान मे ही कही विहार कर ले। यदि विदेश यात्रा पर ही जाना है तो आप इस मुनि वेश को यही छोडकर जाएं। आप दूसरे वेश मे विदेश जा सकते हैं। यह कहना अनुचित नही था, न्याय सगत था। इस वेश का दुरुपयोग नही होना चाहिए। अन्यथा बडा भ्रम पैदा हो जाता है। एक वेश मे एक व्यक्ति कुछ काम करता है, दूसरा व्यक्ति उसी वेश मे और कुछ करने लग जाता है, तीसरे व्यक्ति का आचरण कुछ अन्यथा प्रकार का होता है। इस स्थिति को देखकर आम आदमी भ्रमित हो जाता है। ऐसी स्थितिया हमारे सामने आई हैं।

यह बडी समस्या है। आचार्य भिक्षु ने यह विधान किया—गण से अलग हुए मुनि को साधु न सरधा जाए, चार तीर्थ मे न गिना जाए। यदि वेश वाली समस्या उस समय प्रस्तुत होती तो आचार्य भिक्षु सभवत· आचार-सहिता का एक सूत्र यह भी बना देते—सघ से अलग हुआ साधु सघीय साधुओं के वेश मे न रहे, उसे उस वेश मे रहने का त्याग है। अलग होने वाला इस नियम को पाले या न पाले किन्तु यह आचार-सहिता बन जाती और उसे चिन्तन करने को मजबूर कर देती।

साधु मान वंदना न की जाए

आचार-सहिता का एक सूत्र है—साधु मानकर वदना न की जाए। प्रश्न हुआ—क्या शिष्टाचार भी न निभाया जाए। कहा गया—यह तुम्हारे विवेक पर निर्भर है पर उसे साधु मानकर सत्कार और सम्मान न दिया जाए। जो सघ मे नही रहा, उसका क्या भरोसा ? अकेला अलग हो गया, दो अलग हो गए। वे जैसा चाहे, वैसा करते हैं। इस स्थिति मे भरोसा कैसे हो सकता है ? प्रश्न यह भी है—जो सघ मे है, उन्हे भी साधु मान वन्दना की जाए और जो सघ मे नही है, उन्हे भी साधु मान वन्दना की जाए। इस स्थिति मे संघ मे रहने वाले और अलग होने वाले मे फर्क क्या रहा ? उनमे अन्तर अवश्य होना चाहिए। इसका अर्थ यह भी नही है—जो सघ से अलग हो गया, उससे लडाई-झगडा करे। आचार्य भिक्षु ने इस सन्दर्भ मे औचित्य का स्पष्ट दर्शन दिया—जो सघ के भीतर है, उसे साधु मानकर वदना की जाए और जो बाहर है, उसे भी साधु मानकर वदना करे तो फिर मर्यादा मे रहना कौन चाहेगा ? अनुशासन मे रहना कौन चाहेगा ? 'सब धान एक समान'—यह स्थिति कभी भी सगठन के लिए अच्छी नही होती। सघ मे रहने वाले और उससे अलग होने वाले मुनि के प्रति श्रद्धाभाव समान नही हो सकता।

श्रावक-श्राविकाएं सजग रहें

आचाय भिक्षु ने लिखा—श्रावक श्राविकाए भी इन मर्यादाओ के

पालन मे सजग रहे। ये मर्यादाए साधु-साध्वियो के लिए ही नही, श्रावक-श्राविकाओ के लिए भी हैं। जहा सगठन का प्रश्न है, सघ का प्रश्न है वहा वह किसी एक का नही होता। आचार्य सघ की देखरेख करते हैं पर केवल आचार्य का सघ नही होता। सघ पर आचार्य का जितना अधिकार है उतना ही एक साधु-साध्वी का है, उतना ही एक श्रावक और श्राविका का है। सबका सघ पर समान अधिकार है। सघ की मर्यादाए है। सघ और सगठन की अखंडता के लिए उनका पालन करना समान रूप से अनिवार्य है। इस दृष्टि से साधु-साध्विया ही नही, श्रावक-श्राविकाए भी बहुत सजग रहे हैं। कही सघ की उतरती बात न हो --इस दृष्टि से वे बहुत जागरूक रहे हैं।

व्याख्यान सुनाएं, निंदा नहीं

आचार्य भिक्षु के समय की घटना है। रीया के सेठ हरजीमलजी की हवेली मे एक मुनि आए। उनके हाथ मे एक कॉपी थी। उन्होने उस कॉपी को खोला और व्याख्यान देना शुरू कर दिया—भीखणजी ने अमुक गाव मे असूझता आहार लिया। अमुक गाव मे कच्चा पानी पिया। अमुक गाव मे ऐसा किया, अमुक गाव मे वैसा किया।

सेठ हरजीमलजी बोले—महाराज! कोई व्याख्यान या काम की बात सुनाओ।

मुनिजी ने प्रतिप्रश्न किया—क्या यह काम की बात नही है?

सेठ ने तपाक से कहा—महाराज! यह काम की बात नही है। इससे हमे क्या मतलब? इसमे भीखणजी की निंदा है।

मुनिजी का स्वर तेज हो गया—भीखणजी भी निंदा करते है।

सेठ हरजीमलजी ने कहा—महाराज! भीखणजी कभी किसी की निंदा नही करते। भीखणजी ने यह कभी नही कहा—अमुक साधु ने यह किया, अमुक साधु ने यह किया। वे कहते है—अमुक काम करने वाला साधु नही है। इस बात को वे सूत्र की साक्षी से बतलाते है—अमुक सूत्र मे यह लिखा है और उसके अनुसार ऐसा काम करने वाला साधु नही होता।

मुनिजी मौन हो गए।

आदर्श घटना

आचार्य भिक्षु ने अपने जीवन मे किसी भी सम्प्रदाय या सघ के विरुद्ध एक भी शब्द नही लिखा। यह बडे आश्चर्य की बात है। आचार्य भिक्षु की कितनी निंदा की गई, कितने आरोप-आक्षेप लगाए गए, कितने दोष बतलाए गए। यदि कच्चा-पच्चा होता तो टिक ही नही पाता। कहा गया—आचार्य भिक्षु मे एक सौ सत्तावन दोष है। सघ से अलग होने वाले प्राय कुछ दोष

बताते ही हैं लेकिन जितने दोष आचार्य भिक्षु मे निकाले गए उतने किसी में नहीं। उन दोषो को पढकर ऐसा लगता है—यह भी कोई दोष होता है ? अनेक दोष हसी का पात्र ही बनते हैं। उस समय मे भी आचार्य भिक्षु ने किसी भी व्यक्ति में एक दोष नही बतलाया। यह सचमुच एक आदर्श घटना है।

किसी व्यक्ति पर दोषारोपण करना और दोष बतलाना—यह राग-द्वेष को बढाना है। यह एक मुनि का काम नही होता। यह किसी धार्मिक व्यक्ति का काम भी नही होना चाहिए। उसका काम है केवल धर्म और आचार की बात बताना। ऐसा करने वाला साधु होता है और ऐसा करने वाला साधु नही होता। किसी व्यक्ति विशेष पर आक्षेप करना, उस पर दोषारोपण करना कर्त्तव्य नही होता।

कौन साधु, कौन असाधु

आचार्य भिक्षु से किसी व्यक्ति ने पूछा—महाराज ! साधुओ के अनेक टोले (सप्रदाय) हैं। उनमे कितने साधु हैं और कितने असाधु। आचार्य भिक्षु ने जबाब दिया—कौन साधु हैं और कौन असाधु—यह बताना मेरा काम नही है। व्यक्ति ने अपनी बात दोहराते हुए कहा—महाराज ! आप बुद्धिमान हैं और आप ही यह बात बता सकते हैं। इस प्रश्न के सदर्भ मे आचार्य भिक्षु ने उस भाई को एक कथा सुनाई—एक व्यक्ति वैद्य से बोला—वैद्यवर ! मुझे आखो से दिखाई नही देता। आप बताए—इस गाव मे सवस्त्र कितने हैं और निर्वस्त्र कितने हैं। वैद्य ने कहा—यह गलत धधा मैं नही कर सकता। मै एक काम कर सकता हू तुम्हारी आख को ठीक कर सकता हू। उससे तुम्हे सब कुछ दिखने लग जाएगा। तुम स्वय देख लेना—कौन सवस्त्र है और कौन निर्वस्त्र ?

कथा का उपसहार करते हुए आचार्य भिक्षु बोले—मैं तुम्हे साधु का लक्षण बता देता हू। जो अमुक आचार मे चलता है, वह साधु होता है और जो आचार मे नही चलता, वह असाधु होता है। तुम स्वय निर्णय कर लेना—कौन साधु है और कौन साधु नही है ?

न सम्मान, न अपमान

आचार्श भिक्षु मे समता का भाव था, वीतरागता का भाव था। उन्होने जो मर्यादाए बनाई, उनमे तटस्थता का भाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। उन्होने कहा—जो सघ से अलग हो गया, उसके साथ न लडाई-झगडा करना है और न उसे बहुमान या सम्मान देना है। लडाई-झगडा नही करना, जिससे कर्म बध न हो। लडाई-झगडे से हमे कोई लाभ नही मिलता। सम्मान भी न करें, जिससे सघ की व्यवस्था का भग न हो, सगठन की मर्यादा का

उल्लंघन न हो। सम्मान देने का एक अर्थ है—हम उच्छृंखलता, अनुशासन-हीनता और आचार हीनता को पोषण देने वाले बन जाते हैं। जो अलग हो जाते हैं, उनमे कैसा अनुशासन और आचार होता है, इसे हम सब जानते हैं। किसी व्यक्ति विशेष की नही, सबकी यही स्थिति रही है। क्या सम्मान और बहुमान देकर हम आचारहीनता और अनुशासनहीनता के अनुमोदक नहीं बनते ? उसमे सहभागी और हिस्सेदार नही बनते ? सम्मान और अपमान—दोनो से बचें। इन दोनो से बचने वाला न कर्म का बध करता है और न सघ की मर्यादा का अतिक्रमण करता है।

सुरक्षा प्रहरी

भगवान् महावीर ने एक महत्त्वपूर्ण सूत्र दिया—उपेक्षा। उपेक्षा करो, मध्यस्थ या उदासीन रहो। सोलह अनुप्रेक्षाओ मे एक अनुप्रेक्षा है—उदासीनता-औदासीन्य। जो नही करना है, उसके प्रति उदासीन रहे। जबरदस्ती किसी को धर्म मे लाया नही जा सकता और धर्म मे चलाया नही जा सकता। उस स्थिति मे आलम्बन क्या है ? क्रोध करेंगे तो कर्म का वन्ध होगा। किसी को अच्छी बात समझाए और वह न माने तो क्या करें ? क्या गुस्सा करे ? गुस्सा करने वाले के कर्म का बन्ध होता है। धर्म के मार्ग मे, जैन शासन मे सबसे बडा जो विवेक है, वह यह है—मेरे कही कर्म का बध तो नही हो रहा है। इससे बडा कोई प्रहरी नही है हमारा। यह साधु और श्रावक के लिए प्रहरी रहता है। आजकल जिनका नाम हिटलिस्ट मे है, उनके साथ गन-मैन रहता है, सुरक्षा प्रहरी रहता है। जिन विशिष्ट व्यक्तियो को ज्यादा खतरा है, उनके साथ ब्लेक-कैट-कमाडो रहते हैं। वे काम चाहे दे या न दे पर रहते अवश्य हैं। साधु और श्रावक के साथ सुरक्षा की प्रहरी कौन है ? यह एक ही सूत्र उसका प्रहरी है—कही इस प्रवृत्ति और आचरण से मैं कर्म का बन्ध तो नही कर रहा हू ? मेरे कर्म का बन्ध तो नही हो रहा है ? यह एक चिंतन व्यक्ति को हजार बुराइयो और गलतियो से बचा देता है और जिसके मन मे यह प्रहरी नही बैठता, उसे भगवान भी नही बचा सकता। वह जो चाहे सो कर सकता है।

अंकुश है कर्म का सिद्धान्त

एक छोटे वैरागी ने भावपूर्ण स्वर मे पूछा—मुझे वह मार्ग बता दो, जिससे कर्म का बन्ध न हो। मेरे मन मे आया—जिस व्यक्ति के मन में जैन धर्म का तत्त्व बैठ गया है, उसका और कोई चिंतन नही हो सकता। उसका सबसे बडा चिंतन यह होगा—मैं वह काम न करू, जिससे कर्म का बन्धन हो, ग्रन्थिपात हो और वह गाठ घुल जाए। वह गाठ न जाने कब तक भोगनी पडे। यह विवेक जिसमे जाग गया, वह आदमी धार्मिक बन जाता है और

उसका सारा आचार वीतरागता मे चला जाता है। जिसके मन में यह बात नही होती, वह चाहे जो कर सकता है। वह खुला है, उस पर बन्धन नही हो सकता। धर्म के मार्ग मे कोई डडा नही है, जिससे किसी व्यक्ति को जबर्दस्ती चलाया जा सके। सबसे बडा डडा, सबसे बड़ा अकुश और वल्गा है—कर्म का सिद्धात। व्यक्ति यह सोचे—कर्म का बध न हो और ऐसी स्थिति न हो जिससे मैं भारी कर्मा बन जाऊ। दो शब्द प्रचलित हैं—हलुकर्मी और भारी-कर्मी। जिसके कर्म हल्का होता है, वह पाप से बहुत डरता है। वह कोई भी ऐसा काम नही करता, जिससे पाप का बन्ध हो। भारीकर्मा ऐसा होता है कि उसे कोई चिन्ता ही नही होती। कितना ही भार आकर पडता चला जाए, उसे कोई परवाह नही है। वह भार का गट्ठर सिर पर लादता ही चला जाता है।

सबका योगदान

आचार्य भिक्षु ने जो अनुशासन और व्यवस्था दी, सघ की सुरक्षा के लिए जो दर्शन दिया, उसकी पृष्ठभूमि मे तटस्थता का स्वर मुखरित है। सघ मे जो साधु-साध्विया हैं, उनके प्रति हमारा व्यवहार कैसा हो, उसकी एक आचार-सहिता है। जो सघ से अलग हो जाए, उसके प्रति हमारा व्यवहार कैसा हो, उसकी एक अलग आचार-सहिता है। श्रावको के लिए भी इसे जानना बहुत जरूरी है। मेरा यह दृढ विश्वास है—हमारे सघ के श्रावक-श्राविकाए इस आचार-सहिता के प्रति बहुत सजग है। मैंने अनेक बार अपने पूर्वज आचार्यों और साधुओ से सुना—हमारे सघ और सगठन की अक्षुण्णता मे जितना योगदान साधु-साध्वियो का है उतना ही श्रावक श्राविकाओ का है। उनका योगदान साधु-साध्वियो से कम नही है। यह बहुत बडी बात है।

स्वतन्त्रता का दुरुपयोग न करें

धर्मसघ और सगठन के लिए चतुर्विध सघ का एक जैसा कर्त्तव्य होता है और सबने अपना कर्तव्य निभाया है। तेरापथ का इतिहास बता रहा है—इस विषय मे चतुर्विध सघ पूरा जागरूक रहा है और वह सघ की अक्षुण्णता को बनाए हुए है। इस सदर्भ मे आचार्य भिक्षु ने जो सूत्र दिए, वे समता की साधना के सूत्र है। न राग-द्वेष को बढाना, न उच्छृखलता और अनुशासन-हीनता को बढाना। आज स्वतत्रता के नाम पर उच्छृखलता को प्रोत्साहन देने की बात की जाती है। किसी भी सगठन के लिए इसे अच्छा नही माना जा सकता। कोई भी सगठन स्वतन्त्रता के नाम पर उच्छृखलता को प्रोत्साहन नही दे सकता। स्वतत्रता का अपना मूल्य है। हम उसका मूल्य आकें, उसका सहयोग करें किन्तु उसका दुरुपयोग न करे। न उच्छृंखलता को प्रोत्साहन

और न स्वतन्त्रता का अवमूल्यन। इन दोनो से बचकर जो बीच का मार्ग है, उसका अनुसरण करें। इससे धर्मसघ तेजस्वी बनेगा और सघ के चारो तीर्थ—साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका अपने दायित्व निर्वाह मे अधिक सफल बनेंगे।

तेरापंथ का अर्थ

जीवन का महत्त्वपूर्ण पक्ष है राग। उसे छोडकर विराग का गीत गाना इस दुनिया मे शायद समझ से परे हो सकता है। आज का यह मान्य सिद्धात बन गया—प्रतिपक्ष होना चाहिए। अनेकात का बहुत पुराना सिद्धात है—प्रतिपक्ष होना चाहिए। पर अब यह विज्ञान का भी सिद्धात बन गया है। हर जगह प्रतिपक्ष अनिवार्य है। लोकसभा मे भी विपक्ष होना चाहिए। जहा अधिनायकवाद है वहा भी किसी न किसी रूप मे विपक्ष की बात सोची जा रही है। प्रतिपक्ष अगर न हो तो सतुलन नही रह सकता। सतुलन के लिए पक्ष और प्रतिपक्ष—दोनो का होना जरूरी है। कोरा क्रोध हो और क्षमा न हो तो आदमी एक दिन मे मर जाएगा। पक्ष के साथ प्रतिपक्ष है इसीलिए आदमी जीता है। शरीर है तो साथ मे प्रतिशरीर भी है। यदि प्रतिशरीर (anty body) मजबूत न हो तो यह शरीर टिक नही सकता, मजबूत नही रह सकता। यह शरीर इसलिए टिक रहा है कि एक प्रतिशरीर उसे बचा रहा है।

बधन है राग

हमारे मानसिक एव भावनात्मक जगत् का सतुलन बनाये रखने के लिए प्रतिपक्ष का होना बहुत जरूरी है। राग है तो साथ-साथ विराग का होना भी जरूरी है। जैन धर्म मे जो वीतराग शब्द का चुनाव किया गया, वह बहुत महत्त्वपूर्ण चुनाव है। अर्हत् का मतलब है—वीतराग। राग मे सारा ससार है। हमने देव या इष्ट किसी रागी को नही, वीतराग को माना है। जिसमे राग नही है, वह वीतराग है। जिसमे कोई दोष नही है, वह वीतराग है। निर्दोष व्यक्ति वही हो सकता है, जो राग से मुक्त हो चुका है। बडा बन्धन होता है राग का।

काष्ठ में छेद : कमलकोष मे कैद

> **बंधनानि खलु सति बहूनि, प्रेमरज्जुदृढबधनमाहु।**
> **काष्ठभेदनिपुणोपि षडंघ्रि, निष्क्रियो भवति पकजकोशे ॥**

दुनिया मे बहुत सारे सबध है, बाधने वाले है किन्तु यह राग का बधन सबसे जटिल है। कवि ने दृष्टात की भाषा मे समझाया—भवरा काठ को भेदकर बाहर निकल जाता है। पर जब कमलकोष मे साझ के समय रह जाता है तो फिर बाहर नही निकल सकता, वही बधा का बधा रह जाता है।

उस समय वह भवरा सोचता है—रात बीतेगी, सुप्रभात होगा, सूर्य उगेगा, यह पकज खिलेगा। ऐसा सोचता हुआ कमलकोष मे कैद भवरा अपनी मुक्ति की कामना मे डूब जाता है। उसी समय एक हाथी अपनी मस्ती से गुजरता हुआ उस कमलकोष को उखाड फेंकता है।

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातम्,
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पकजश्रीः।
इत्थं विचिन्तयति कोषगते द्विरेफे,
हा! हन्त! हन्त! नलिनीं गज उज्जहार॥

भवरा कमलकोष से नही निकल सकता क्योकि वह राग का बधन है। इस बात को आचार्य भिक्षु ने बहुत गहराई से पकडा। उन्होने द्वेष पर ज्यादा बल नही दिया। द्वेष वास्तव मे है ही क्या? वह राग का अनुगामी या अनुचर है, मूल नही है। मूल बन्धन या मूल दोष है—राग। जितना भी विस्तार होता है, वह राग का विस्तार है, प्रियता का विस्तार है।

सूत्र अप्रतिबद्धता का

हमारी साधना की पद्धति मे इस बात पर बहुत विचार किया गया है। एक सूत्र दिया गया अप्रतिबद्धता का—प्रतिबद्धता न हो। प्रतिबद्धता राग को जन्म देती है। प्रश्न हो सकता है—प्रतिबद्धता किसके साथ न हो? सबसे पहले शरीर के साथ प्रतिबद्धता न हो, कपडो के साथ प्रतिबद्धता न हो, स्थान के साथ प्रतिबद्धता न हो। आचार्य भिक्षु ने स्थानक पर जो प्रहार किया, उसका यही आशय था। वे यह जानते थे—रहने के लिए स्थान चाहिए। इस सदर्भ मे जो विरोध था, वह स्थान की प्रतिबद्धता का था। प्रत्येक मुनि अपने-अपने स्थान बनाये, स्थान प्रतिबद्ध हो जाए और यह कहा जाए—अमुक स्थान अमुक मुनि महाराज का है। आचार्य भिक्षु ने इसी बात का विरोध किया था। विरोध किसी सस्था या उपाश्रय का नही था।

उपाश्रय की परंपरा

उपाश्रय की परपरा बहुत पुरानी रही है। गृहस्थ अपनी साधना के लिए उपाश्रय बनाते थे। प्राचीनकाल से उपाश्रय और पौषधशाला बनाने की परम्परा रही है। आश्रय का अर्थ है घर। घर के निकट साधना के लिए जो स्थान बनाया जाता उसका नाम बन गया उपाश्रय। आनन्द श्रावक के भी उपाश्रय था और अन्यान्य श्रावको के भी उपाश्रय थे। वे श्रावक वहा धर्म की आराधना किया करते थे। आचार्य भिक्षु ने उपाश्रय का विरोध नही किया। कालातर मे ये उपाश्रय मदिरो के पास बनने लगे। एक समय ऐसा आया—उपाश्रय सामूहिक साधना का केन्द्र बन गया। उसमे लोग सामूहिक साधना करने लगे। इन सबमे कोई कठिनाई नही है।

स्थान की प्रतिबद्धता न हो

कुछ लोग यह कहते हैं—स्थानक बनाने का निषेध किया गया किन्तु आज सभाभवन बन रहे है। ये स्थानक ही हैं। वस्तुत. सभाभवन और स्थानक एक नही हैं। सभाभवन किसी मुनि विशेष से प्रतिबद्ध नही है। वे सामाजिक सस्थान है, समाज की उपयोगिता के लिए हैं। जो साधु स्थानक बनाते हैं, उनका अपना नाम और अपना अधिकार रहता है। उस स्थान मे दूसरा ठहर नही सकता, रह नही सकता। कहा जाता है—यह अमुक मुनि महाराज का है और वे ही यहा ठहर सकते हैं। उनकी अनुमति के बिना कोई मुनि रह नही सकता। स्थानक के साथ मुनि की प्रतिबद्धता हो गई। इसी प्रतिबद्धता का आचार्य भिक्षु ने विरोध किया। स्थान की प्रतिबद्धता नही और आहार की प्रतिबद्धता भी नही, शिष्यो की प्रतिबद्धता भी नही। आचार्य भिक्षु ने शिष्य शाखा का जो उत्थापन किया, उसका उद्देश्य यही था—शिष्यो की प्रतिबद्धता न हो। आज शिष्य शाखा का प्रश्न नही है किन्तु प्रकारान्तर से यह प्रतिबद्धता भी न हो जाए—अमुक के बिना अमुक का काम नही चल सकता, अमुक के बिना अमुक रह ही नही सकता। इस विषय मे जागरूकता अपेक्षित है।

पुस्तक की प्रतिबद्धता न हो

पुस्तको की भी प्रतिबद्धता नही होनी चाहिए। उस समय पुस्तको का बडा प्रश्न था। पोथियो और पन्नो की जबर्दस्त प्रतिबद्धता थी। ऐसी स्थिति थी—एक प्रति को इधर-उधर लेना मानो किसी का कलेजा लेना है। आज यह स्थिति नही है। उस समय प्रतिबद्धता को मिटाने के लिए पुस्तको का सघीकरण कर दिया गया। तेरापथ धर्मसघ की कोई भी प्राचीन प्रति है, उस पर लिखा मिलेगा—यह पुस्तक भिक्षु, भारीमाल आदि वर्तमान आचार्य की निश्रा मे है। पुस्तक की प्रतिबद्धता भी हट गई।

निर्लेपता का पर्याय

निश्रा शब्द निर्लेपता का पर्याय बन गया। इसका अर्थ है—मेरा कुछ भी नही है। वह मेरे पास है, मेरे काम आ रहा है। साधु के पास रजोहरण रहता है पर कोई यह नही कहेगा, यह मेरा रजोहरण है। वह कहेगा—यह रजोहरण मेरी निश्रा मे है, अमुक पात्र मेरी निश्रा मे है, वस्त्र, पुस्तकें आदि मेरी निश्रा मे है। हमारे पास जो साधु-साध्विया है, वे दिये हुए हैं, विरासत मे मिले हुए हैं। सब दत्तक हैं। इसीलिए जब भी साधु-साध्विया चातुर्मास सपन्न कर आते हैं तब इस वाक्यावलि को दोहराते हैं—ये साधु-साध्विया, पुस्तक-पन्ने हाजिर हैं, मैं हाजिर हू। आप जहा रखाए, वहा रहने का भाव है। यह निर्लेपता का समर्पण है।

तेरापंथ का अर्थ

एक भाषा मे कहा जा सकता है—तेरापथ का अर्थ ही है ममकार का विसर्जन। ममकार के विसर्जन का व्यावहारिक पक्ष है तेरापथ। आतरिक प्रयोग तो स्वय व्यक्ति पर निर्भर है। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी अपनी आत्मा जाने—किसने कितने ममत्व का विसर्जन किया है। किंतु व्यवहार मे आचार्य भिक्षु ने ममत्व का पूरा विसर्जन करा दिया। यदि यह मेरा पथ होता तो व्यक्ति ममत्व से जुडा रहता।

आचार्यवर भारत की ससद मे पधारे। उस समय लोकसभाध्यक्ष थे एम० एस० आयगर। वे बडे भावुक और श्रद्धालु थे। बातचीत हुई। आचार्यवर ने तेरापथ का अर्थ बतलाया। वे इसे सुनकर झूम उठे—तेरापथ! तेरापथ! तेरापथ! इसलिए यह मेरा पथ है।

ममत्व विसर्जन का प्रयोग

ममत्व के विसर्जन का यह कितना बडा प्रयोग है? विचार का भी ममत्व नही। विचार की प्रतिबद्धता भी बडी भयकर होती है। आचार्य भिक्षु ने जो मर्यादाए दी, उनकी मीमासा करे तो निष्कर्ष यही निकलेगा—प्रत्येक स्थान पर ममत्व को काटा गया। वास्तव मे साधुत्व और है ही क्या? साधुत्व किसका नाम है? ममत्व ही साधुत्व मे बाधक है। ममत्व का न होना ही साधुपन है। जहा 'मै और मेरा' यह भाव बना रहेगा। वहा साधुता दूर रहेगी। वह आएगी, दरवाजा खटखटाएगी पर भीतर जा नही पायेगी। भीतर दरवाजा बद है। दरवाजा तब तक नही खुलता जब तक ममत्व की ग्रथि सघन बनी रहती है।

कठिन है ममत्व का विसर्जन

महारानी विक्टोरिया बडी शक्तिशाली साम्राज्ञी हुई है। उसने दरवाजा खटखटाया। भीतर पति था। उसने पूछा—कौन है? उत्तर मिला—महारानी विक्टोरिया! दरवाजा नही खुला। तीन बार ऐसा क्रम चला, दरवाजा नही खुला। चौथी बार फिर पूछा—कौन है? उसने कहा—आपकी प्रियतमा विक्टोरिया। तत्काल दरवाजा खुल गया।

जहा अहकार बोलता है वहा दरवाजा नही खुलता। अहकार न हो तो दरवाजा खुलता है। सबसे ज्यादा जटिल होता है ममत्व—मेरापन। आचार्य भिक्षु ने इस पर कुठाराघात किया। इस सूत्र का उच्चारण करना सीधी बात है—'जहा पोम जले जाय णोवलिप्पई वारिणा'—कमल जल मे उत्पन्न होता है, पर वह जल से लिप्त नही होता। यह बडा मृदु पद है। यह निर्लिप्तता का उत्कृष्ट उदाहरण है। इसका उच्चारण बडा सरल है, परन्तु निर्लेप रहना बडा कठिन है। इसलिए कठिन है कि ममत्व की ग्रन्थि टूटे बिना

निर्लेपता की बात सधती नही है। मोह और मूर्च्छा ने जीवन को भद्दा और दोषपूर्ण बना दिया है। यदि यह मूर्च्छा की अधता न हो तो जीवन आलोकमय बन जाए। अध्यात्म के आचार्यों ने सबसे ज्यादा प्रहार इस बात पर किया कि ममत्व और मूर्च्छा जीवन में न हो।

जड़ की बात

तेरापथ की मर्यादाए और व्यवस्थाए ममत्व को मिटाने का प्रयत्न है। यह ठीक है कि ममत्व-विसर्जन की बात शायद प्रिय नही लगती। कितना कठिन समय रहा होगा, जब शिष्य बनाने की बात नही रही होगी। चेला बनाने का निषेध महावीर ने भी नही किया। यह तीर्थंकर सम्मत बात थी। महावीर ने कब मनाही की थी—चेला मत बनाओ। केवल आचार्य भिक्षु ने ही यह मर्यादा क्यो की ? यह खोज का विषय है कि क्या किसी जैन और अजैन धर्म सप्रदाय मे चेला न बनाने की परम्परा रही है ? आचार्य भिक्षु ने इसे जड की बात माना और इसीलिए उन्होने ऐसी बात को पकडा, जिसे पकडे बिना आज के बहुत से धर्म-सप्रदाय लडखडा रहे है।

शिष्यो का ममत्व और समस्याएं

श्री पारस भाई जैन आए। उन्होने कुछ बडी विचित्र बाते बतलाई। मै किसी का नाम लेना नही चाहता। उन्होने बताया—एक धर्मसघ, जो काफी बडा है पर व्यवस्था के नाम से शून्य है। जिस मुनि के मन मे जो आए, वह करो। चाहे चन्दा इकट्ठा करो, बैंक मे खाता खोलो, चाहे रात को खाओ, कुछ भी करो, कोई कहने वाला नही है। चाहो तो बडो से हस्ताक्षर करवाकर उनके नाम से चाहे जैसे कर लो। इसका कारण क्या हुआ ? चेलो की एक परम्परा बन गई। आज एक के पास पाच शिष्य हैं। दूसरे के पास दस या बीस शिष्य हैं। कुछ एक्शन लेने से पहले यह सोचना पडता है कि एक को कुछ कहने का अर्थ है –इतने श्रावक तो अलग हो ही जाएगे। यह शिष्यो का ममत्व होना सगठन के लिए सबसे बडा विघ्न है।

आचार्य भिक्षु ने साधना और सघबद्धता—दोनो दृष्टियो से इसे अमान्य किया। परिणाम यह है कि आज वह शिष्य बनाने का सस्कार भी मिट गया। आज तेरापथ के साधु-साध्वियो मे इस सस्कार का बीज ही समाप्त हो गया। किसी के मन मे ही नही आता है कि चेला बनाऊ या चेली बनाऊ।

बदलते हैं संस्कार

व्यवस्था से आदतें और सस्कार बदलते हैं। मानसिक प्रशिक्षण से भी बदलाव आता है। आचार्य भिक्षु और जयाचार्य ने 'चेला मत बनाओ' इस

बात पर इतना बल किया कि आज शिष्य-प्रथा पर प्रहार करने की जरूरत भी नही है। आज वह मानस और मस्तिष्क ही बदल गया। आदत एक दिन मे नहीं बदलती पर उस दिशा मे हमारा प्रयत्न निरन्तर चलता रहे तो दस-बीस या पचास वर्ष बाद ऐसी स्थिति आती है--नई आदत का निर्माण होता है और पुरानी आदत बदल जाती है।

परिवर्तन के घटक तत्त्व

ममत्व को छुडाना बहुत कठिन बात है, पर यह हम निश्चित माने--मस्तिष्कीय प्रशिक्षण, शिक्षा, बार-बार अनुचिन्तन और व्यवस्था--ये कुल मिलाकर एक ऐसा वातावरण पैदा करते हैं, जिससे आदतो में परिवर्तन होता है। ये तत्त्व हमारी पूरी परम्परा मे सदा से चलते रहे है, आज भी चल रहे हैं। यदि ऐसा नही होता तो ये ममत्व की जडे, वटवृक्ष की तरह इतनी फैल जाती और इन्हे काटना बडा मुश्किल होता, किन्तु तेरापथ धर्मसघ इसके प्रति प्रारम्भ से ही जागरूक रहा।

निर्लेपता कैसे बढे? लेप न लगे, आसक्ति न बढे। इस दृष्टि से आसक्ति की जडो को काटने के प्रयोग बराबर चलते रहे है। एक भाषा मे कहा जा सकता है--तेरापथ का अर्थ है--आसक्ति की जडो को निर्मूल करने का प्रयत्न। यह क्रम बराबर चलता रहे, यह अपेक्षित है। जितना-जितना ममत्व कम होगा उतना ही धर्मसघ यशस्वी और तेजस्वी बनेगा, हमारी साधना भी उज्ज्वल और विमलतर होती चली जायेगी।

विनय का मूल्यांकन

सामाजिक जीवन मूल्य-सापेक्ष होता है । उसमे मूल्यो का महत्त्व होता है और वे मूल्य समाज की दिशा का निर्धारण करते हैं । तेरापथ ने विनय का मूल्य आका । किसका कितना मूल्य होता है, इसकी कसौटी है परिणाम । आज हमारी कुछ विशेषताए जो दूसरो को अद्भुत लग रही हैं, उसका हेतु है विनय की परपरा का विकास । आचार्य भिक्षु ने 'विणओ जिणसासनमूल' इस बात को गहराई से पकडा । वे जानते थे—कोई भी धर्म का सगठन विनय के अभाव मे चल नही सकता । राजनीतिक सगठन मे विनय का मूल्य नही होता । उसमे शक्ति का बडा मूल्य होता है । किन्तु जहा शक्ति नही, कोई दड नही, कोई बाहरी नियत्रण नही, वहा विनय न हो तो सगठन का आधार ही क्या होगा ? यह समस्या बहुत जटिल है । कहा जा सकता है—मनुष्य प्रकृति से विनय को मूल्य नही दे रहा है । इसका कारण उसके मन मे बैठा हुआ भय है । वह सोचता है, यदि विनय करूगा तो मैं छोटा हो जाऊगा ।

व्यक्तिगत भ्रम

मनोविज्ञान मे भ्रम को दो भागो मे बाटा गया है—व्यक्तिगत भ्रम और सार्वभौम भ्रम । आदमी ने अन्धेरे मे रस्सी देखी और वह साप-साप चिल्लाया । यह व्यक्तिगत भ्रम है । मैंने देखा, लाडनू के पुराने ठिकाने मे आचार्यवर विराज रहे थे । रात का समय । सर्वत्र अन्धेरा ही अन्धेरा । एक कोटडी मे एक वस्तु पर सफेद कपडा ढका हुआ था । रात को साधुओ ने उसे देखा, वे चिल्लाए—पीरजी-पीरजी · · ·· · । ऐसा भ्रम बहुत लोगो को रात मे होता है । किसी भी भ्रम के पीछे हमारी भावात्मक, सवेगात्मक और प्रेरणात्मक अभियोजनाए होती हैं । एक आदमी उस स्थान पर सो रहा है जहा उसका माल रखा हुआ है, उसके पास ही दूध का गिलास पीने के लिए रखा है । वह व्यक्ति नीद मे चला गया, अकस्मात् एक बिल्ली आई । गिलास गिर गया । व्यक्ति हडबडाकर उठा और चिल्लाने लगा—चोर आ गया, चोर आ गया । यह भावात्मक प्रेरणा है ।

सार्वभौम भ्रम

एक होता है सार्वभौम भ्रम । कच्छ के रण मे कोई भी चला जाए, उसे मृग-मरीचिका ही दीखेगी । यह भ्रम किसी एक को नही होता, किन्तु

सबको होता है। सबको पानी का तालाब ही दिखाई देगा। यह है मृग-मरीचिका। यह एक सार्वभौम भ्रम है।

प्रश्न है—विनय के बारे मे कौन-सा भ्रम मानना चाहिए ? एक प्रकार से यह सार्वभौम भ्रम हो गया—विनय करने वाला छोटा होता है। जिस दिन यह भ्रांति टूट जाएगी और यह सचाई समझ मे आएगी— विनय करने वाला छोटा नही किन्तु बडा होता है, उस दिन विनय की परम्परा को विकास देने में सहायता मिलेगी।

आवश्यकता है आत्मानुभूति की

अमरीका के राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन को साधारण आदमी भी सामने मिलता तो वे अपना टोप उतारकर उसका विनयपूर्ण अभिवादन करते। सम्राट् से अधिकारी कहते—आप राष्ट्रपति होकर साधारण आदमी—नीग्रो और काले लोगो को टोप उतार कर अभिवादन करते हैं, यह ठीक नही। लिंकन ने उत्तर दिया—शालीनता और विनम्रता के मामले मे मैं किसी से पीछे रहना नही चाहता। जो इसमे पिछड गया, वह सचमुच पिछड गया।

जब तक यह विनम्रता की बात नही आती तब तक विनय का मूल्य आका नही जा सकता। इस भ्रम को तोडने के लिए आवश्यकता है आत्मानुभूति की। विनय हमारे सामने आने वाली घटना है। हाथ जोडना, झुक जाना—यह ऊपर का व्यवहार है। इसे लोकोपचार विनय कहा गया है। वास्तव मे यह विनय नही है, विनय है आत्मानुभूति या आत्मौपम्यानुभूति। जब आत्मा की अनुभूति होती है, व्यक्ति अपने आपको पहचानता है तब वह कभी उद्दण्ड नही हो सकता। उसमे कभी अविनय और अशिष्टता नही हो सकती। जो आत्मानुभूति के स्तर का स्पर्श कर लेता है, वह विनयी बन जाता है।

कषाय नियन्त्रण

दूसरी बात है—कषाय का नियन्त्रण। जिसका अपने कषायो पर नियन्त्रण नही है, वह विनय नही कर सकता। आवेग-सवेग हर व्यक्ति मे होते हैं। सवेग भावात्मक उत्तेजना की अवस्था है। तब तक उस उत्तेजना का प्रक्षालन नही होता जब तक अपनी अनुभूति न हो जाए। हम हमेशा बाहरी अनुभूति मे रहते है। उच्चता और हीनता—दोनो ग्रन्थिया बराबर काम कर रही है। विनम्रता का विकास होने मे कषाय एक बाधा है। क्या इसमे गोत्र-कर्म की बाधा भी नही है ? एक आदमी उच्च गोत्र का अनुभव करता है। क्या वह बडप्पन की अनुभूति मे नही रहता ? सामान्य धारणा बन गई—छोटे साधु को बडे साधु के प्रति विनय करना चाहिए। यह बात ठीक है, पर

क्या इसका दूसरे रूप मे परिवर्तन नही किया जा सकता ? क्या बडे साधु को भी छोटे साधु का विनय नही करना चाहिए ? वास्तव मे यह भी उतनी ही सचाई है। क्योकि विनय कोरा शिष्टाचार नही है। अगर हम विनय की बात को शिष्टाचार के साथ जोड देते हैं तो बात उलट जाती है। वस्तुत यह प्रश्न इसीलिए उलझ गया।

आत्मा की समानता

यह कहा जाता है—आशातना किसी स्त्री या पुरुष की ही नही किंतु एक एकेन्द्रिय जीव की आशातना भी नही करनी चाहिए। न एक पत्थर की आशातना, न एक जल बिन्दु की आशातना, न एक छोटी-सी पेड की, पत्ती की आशातना। हमे किसी की भी आशातना नही करनी चाहिए। आशातना न करना विनय मे रहना है। फिर यह भ्रम क्यो नही टूटना चाहिए ? सबके प्रति विनम्रता का भाव क्यो नही होना चाहिए ? जहा आत्मा की समानता की अनुभूति का प्रश्न है वहा विनय-अविनय की बात कहा आती है ? छुटपन और बडप्पन की बात कहा आती है ? एक ओर छह जीव निकायो को अपने समान मानो, दूसरी तरफ थोडी-सी बात होते ही अहकार आ जाए। क्या इस सिद्धात का वही खडन नही हो जाता है ?

विनय किसी के प्रति नहीं है

यह शिष्टाचार है—आचार्य पट्ट पर आसीन होते हैं और शिष्य सामने बैठता है। आचार्य आदेश देते है और शिष्य आचार्य का आदेश मानता है। ये सब व्यवहार की बाते है। किन्तु जहा सिद्धात की बात है वहा एक आचार्य भी उतना ही विनम्र होता है जितना एक शिष्य। आचार्य को और ज्यादा विनम्र होना चाहिए। यह आत्मा का स्वभाव है। हमारी भ्राति यह है कि हमने विनम्रता को किसी के प्रति मान लिया है। यह धारणा कैसे टूटे ? जब तक यह भ्रम नही टूटता, समस्या उत्पन्न होती रहती है। यह पाला हुआ भ्रम मनुष्य को बहुत परेशान करता है इसीलिए विनम्रता का जो विकास होना चाहिए, वह नही हो रहा है। विनय का जो मूल्य आकना चाहिए, वह नही आका जा रहा है।

मूल्य है व्यवहारनय का

तीसरी बात है— हमने व्यवहारनय का भी ठीक मूल्याकन नही किया है। व्यवहार का भी अपना एक मूल्य होता है। शिष्टाचार कोई अनबूझ आदमी का चलाया हुआ नही है। हम यदि शिष्ट आचरण करेगे तो दूसरा भी हमारे प्रति शिष्ट आचरण करेगा। यह एक शिष्ट परम्परा है। आज एक मुनि अपने गुरु को नमस्कार नही करेगा तो कल उसका शिष्य उसे कैसे नमस्कार करेगा ? शिष्टाचार की परम्परा ही समाप्त हो जाएगी। तेरापथ

की परम्परा है—आचार्य सामने विराजे हैं तो कोई भी मुनि अकडकर नही जाएगा, वह हाथ जोडकर, सिर झुकाकर जाएगा। यह एक शिष्ट परम्परा है।

सामुदायिक जीवन की सरसता

चौथी बात है—सामुदायिक जीवन की सरसता। विनय नही होता है तो सामुदायिक जीवन बहुत सरस नही रहता। दुनिया मे सबसे कठिन काम है—साथ में रहना और प्रेम से रहना। सैकडो साधु-साध्विया साथ रहते हैं, सौहार्द और अनुशासन के साथ रहते हैं, यह विनय का ही सस्कार है। तेरापथ धर्मसघ मे आचार्य भिक्षु से लेकर आज तक विनय का विशेष मूल्य आका गया। विनय करने वाला कभी छोटा नहीं होता, बडा होता है। सहन करने वाला छोटा नही होता, बडा होता है। इस सचाई को समझते रहे, विनय का मूल्य आकते रहे तो तेरापथ धर्मसघ केवल धर्म समाजो मे नही, दुनिया के हर समाज में अपनी अलग पहचान को बनाए रख सकेगा।

आज्ञा को शिरोधार्य करें (१)

तीन साधन

एक महिला, पति द्वारा परित्यक्त और गरीब। मामला अदालत मे पहुचा। न्यायाधीश ने पूछा— तुम्हारे पास आजीविका का कोई साधन है ? वह बोली—एक नही, तीन साधन हैं। न्यायाधीश ने पूछा—तीन कौनसे हैं ? मेरे पास हाथ हैं, अच्छा स्वास्थ्य है और ईश्वर मेरे साथ है।

ईश्वर पर भरोसा करना बहुत सरल है, क्योकि वह कभी उलाहना नही देता। पर एक जीवित पर भरोसा करना, उसकी बात को मानना बहुत कठिन बात है क्योकि अह प्रत्येक के पास होता है। कोई भी व्यक्ति ऐसा नही होगा, जिसमे अह और स्वाभिमान नही होगा। व्यक्ति कभी नही चाहता कि उसके स्वाभिमान पर कोई चोट लगे। इस अवस्था मे आज्ञा को शिरोधार्य करने की बात कैसे सभव हो सकती है ? क्या ऐसा होना सभव है ? क्या उत्तर सकारात्मक हो सकता है ?

आज्ञा : अनिवार्य सेवा

यदि कोई व्यक्ति अनिवार्य और बडी सेवा का दायित्व ओढता है तो आज्ञा माननी उसके लिए सभव होनी चाहिए। एक जानवर खुला घूमता है। उसके लिए आज्ञा माननी कोई अनिवार्य नही है। सर्कस का जो जानवर है, उसके लिए आज्ञा मानना जरूरी होता है क्योकि वह अनिवार्य सेवा से जुडा होता है। पुलिस और सेना का आदमी, सबसे ज्यादा अनुशासित माना जाता है क्योकि वह अनिवार्य सेवा से जुडा हुआ है। उसके लिए आज्ञा मानना अनिवार्य है। प्राण लगाने की स्थिति आए तो भी वह पीछे नही हट सकता। वहा इतना अनुशासन है और इसका कारण सेवा की अनिवार्यता है। जो अनिवार्य सेवा से जुड जाता है उसके लिए आज्ञा को शिरोधार्य करने के सिवाय कोई विकल्प ही नही होता।

अच्छे मुनि की परिभाषा

एक मुनि के लिए भी आज्ञा मानना अनिवार्य है क्योकि वह भी अनिवार्य सेवा से जुडा है। साधना, सयम का सकल्प, व्रत का सकल्प—यह अनिवार्य सेवा है। उसके सामने अन्य विकल्प नही होता। वह यह नही सोच सकता—इच्छा हो तो यह काम करे और इच्छा न हो तो न करे। जब सयम का व्रत स्वीकारता है, एक अनिवार्यता जुड़ जाती है। जहा अनिवार्य

सेवा आ गई वहा आज्ञा मे चलना आवश्यक है। आज्ञा में चलना साधु की एक परिभाषा बन गई। पूछा गया—अच्छा साधु कौन ? कहा गया—जो आज्ञा मे चले। घडी अच्छी है या बुरी ? उसका आकार अच्छा या बुरा हो सकता है पर घडी वही अच्छी होगी, जो समय का सम्यग् बोध कराए। साधु वही अच्छा है, जो आज्ञा को ठीक मानकर चले। इसीलिए आचार्यों ने परिभाषा बना दी—'आणा जुत्तो सघो'- -सघ वही अच्छा होता है जो आज्ञा से युक्त है।

आज्ञा की अनिवार्यता क्यों ?

मध्य एशिया मे जो कानून बने, उनके सदर्भ मे आज के समीक्षक यह बताते हैं—वे सामतशाही कानून थे। उनका अर्थ था—एक आदमी दूसरे आदमी से आज्ञा मनवाए। प्रश्न हो सकता है—धर्म के क्षेत्र मे, जहा साधना करनी है, आत्मा को पाना है वहा क्या आज्ञा मानना या मनवाना सभव है ? आज्ञा की अनिवार्यता क्यो होनी चाहिए ? पूरी स्वतत्रता क्यो नही होनी चाहिए ? आदमी जो चाहे, वह क्यो न करे ? आज्ञा की अपेक्षा क्या है ? यह एक प्रश्न है। आज्ञा मनवाना, आज्ञा मानना, आज्ञा का प्रवर्तन —इनकी साधना के क्षेत्र मे कोई अनिवार्यता नही है।

साधना : आज्ञा की सहज स्वीकृति

वस्तुत साधना के क्षेत्र मे जो विकास करना है, उसमे आज्ञा मानना सहज होता है, आरोपित नही। साधना का पहला सूत्र है -विनम्रता, कषाय-विजय। सामाजिक क्षेत्र मे अह को बहुत महत्त्व दिया गया है किन्तु साधना के क्षेत्र मे अह-विलय का महत्त्व सर्वोपरि है। वही साधु अच्छा होता है, जिसमे अह का विलय हो गया। जिसका अहकार गल गया, वही है साधु। अहकार गले बिना विद्या भी नही मिलती। राजा श्रेणिक को भी विद्या सीखने के लिए नीचे बैठना पडा और उच्चासन पर एक चोर को बिठाना पडा। बहुत सारे मत्र ऐसे है, जो अहकार की स्थिति मे सिद्ध नही होते। जब अहकार नही रहता है तब आज्ञा मानने की बात नही होती, आज्ञा सहज हो जाती है।

साधुत्व की कसौटी

सत दादू लकडिया बीन रहे थे। एक बडा आदमी आया। वह दादू से मिलने जा रहा था। उससे बोला—ओ लकडहारे ! सत दादू से मिलना है। कहा मिलेगे ? उसने कहा—भीतर हैं, आगे चले जाओ, मिल जाएगे। वह व्यक्ति आगे बढा। पीछे-पीछे सत दादू स्वय चलने लगे। जहा निर्देशित स्थान आया, वहा सामने आकर खडे हो गए। दादू ने कहा—बोलो ! क्या कहना है ? मैं ही दादू हूं।

जो भी बड़ा बना है, उसमें या तो अहकार हुआ ही नही, या अहं-कार हुआ तो उन्होने उसे गला दिया। अहकार को गलाए बिना कोई बडा नही बनता। साधुता की कसौटी है अहकार का विलय। पढाई-लिखाई को साधुता की कसौटी नही माना गया। कबीर कब पढ़े थे ? दादू और आचार्य भिक्षु कब पढ़े थे ? भाषण देना, कविता बनाना, साहित्य रचना, संस्कृत-प्राकृत पढना—ये सब कभी सत की परिभाषा नही बनते। सत की परिभाषा अहकार-विलय से जुडी हुई है। साधु वह है, जिसमे अह का लवलेश भी नही है। जिसका अहकार नही गला, वह साधु नही होता, पडित हो सकता है और पडित बहुत खतरनाक होता है।

विनीत का लक्षण

सत की कसौटी है विनम्रता। जहा अह का विलय होता है वहां सतपना जागता है। जहा अहभाव तिरोहित होता है वहा आज्ञा मानने मे कोई कठिनाई नही होती। विनीतता और अहकार—दोनो एक साथ नही हो सकते। विनीत का लक्षण है, अहकार का विलय। जहा अहकार जागता है, वहा नम्रता का विलय हो जाता है। साधुत्व वहा है जहा अहंकार का विलयन हो जाए। वस्तुत साधुता और विनीतता—भिन्न नही हैं। एक व्यक्ति साधु है और विनीत नही है, यह वचन दु श्रद्धेय है—

> **अहंकारस्य विलय. विनीतस्यास्ति लक्षणम् ।**
> **यदा जागर्त्यहंकारः, तदा स्वपिति नम्रता ।।**
> **अहंकारो विनीतत्वं, द्वय नैकत्र तिष्ठति ।**
> **साधुत्वं विद्यते तत्र, यत्राहकारसक्षयः ।।**
> **साधुत्वं च विनीतत्व, भिन्न नैवास्ति वस्तुतः ।**
> **एकः साधुर्विनीतो नो, दुःश्रद्धेयमिदं वचः ।।**

बुद्धि का धरातल : साधना का मार्ग

जो साधु है, वह विनीत है। यदि इस भूमिका पर हम सोचते हैं तो आज्ञा को शिरोधार्य करना बहुत सरल काम है। जब तक अह का साप फुफकार रहा है तब तक व्यक्ति की विनम्रता को भगवान् ही बचाए। आज-कल लोग बुद्धि के धरातल पर सोचते हैं। उनमे तर्क ही प्रमुख रहेगा। आज्ञा क्यो मानें ? क्या यह गुलामी नही है ? आदि-आदि तर्क बुद्धि के धरातल पर उपजने वाले तर्क है। साधना का मार्ग इससे बिलकुल भिन्न है। यह अनिवार्यता मान ली गई, जहा आत्मा को पाना है वहा आज्ञा मानना जरूरी है। जहा मोक्ष या अपने आपको पाना है वहा आज्ञा को मानना ही होगा। इसके सिवाय कोई विकल्प नही है। साधना या धर्म की आराधना इस अनिवार्यता के साथ जुड गई। यह एक अनिवार्य सेवा हो गई, जिसमे

सबसे पहला धर्म होता है अहकार को गलाना । उसी का पर्याय शब्द है विनम्र होना ।

सचाई को जीएं

विनम्रता कोई आरोपित बात नही है । ज्यो-ज्यो अहकार गलेगा, विनम्रता प्रबल होती चली जाएगी । बडप्पन उसी मे आएगा, जिसमे अहकार नही होगा । जहा विनम्रता होगी वहा बडप्पन होगा । इस सचाई को तेरापथ की परम्परा ने पकडा इसीलिए आचार्य भिक्षु, जयाचार्य और हमारे सभी आचार्यों ने इस बात पर बल दिया—विनीत और विनम्र बनो । इस सचाई को जीना अपेक्षित है । हम इस भाषा मे न सोचें—विनम्रता की बात हम पर थोपी जा रही है । जब अहकार कम नही हुआ तो क्या हुआ ? यह परम्परा रही है—साधना के लिए आचार्य भी आचार्यत्व को छोडकर एकलविहार प्रतिमा को स्वीकार कर लेता है । दिगबर परम्परा मे आज भी यह क्रम चल रहा है कि आचार्य अपने उत्तराधिकारी को आचार्य बना कर एक सामान्य शिष्य की भाति साधना शुरू कर देते है ।

कठिन है आज्ञा मे चलना

विनम्रता की ऐसी उर्वरा होती है तो उसमे आज्ञा का बीज बोने में कोई कठिनाई नही हो सकती । आज्ञा मानो, आज्ञा शिरोधार्य करो—ऐसा सोचने मे कठिनाई नही होती । यदि यह भूमिका नही बनती है तो आज्ञा मानना सबसे कठिन होता है । दीक्षा देते समय आचार्यश्री बहुत बार दोहराते है—लोच करना, पैदल चलना, रात को पानी नही पीना आदि-आदि नियम हैं पर सबसे कठिन है एक गुरु की आज्ञा मे चलना । यह साधुता की कसौटी है । अहकार का विलयन करने की बात सहजता से समझ मे नही आती । यदि समझ मे आ जाए तो आज्ञा मानना कठिन है ही नही । इस स्थिति मे तेरापथ को परम्परा, जयाचार्य की ढालें, आचार्य भिक्षु की विनीत-अविनीत की चौपई और उससे जुडी सारी परिभाषाए स्वत समझ मे आ जाएगी ।

आज्ञा को शिरोधार्य करें (२)

प्रश्न है धारणा का

जोधपुर का प्रतिष्ठित भडारी परिवार उपासना मे बैठा था। बहुत सपन्न और प्रबुद्ध परिवार है। बातचीत हो रही थी। मैंने कहा—जीवन की दिशा बदलो। उन्होने उत्तर दिया—महाराज! धारणाए बडी विचित्र है। यदि हम काम छोड देगे तो हमारी पूछ कहा रहेगी। अभी बहुत सारे लोग आते है, फोन आते हैं। जब हम सरकारी नौकरी छोड देगे, रिटायर हो जाएगे तो हमारे पास कौन आएगा?

प्रश्न पैसे का नही है। पैसे की कमी नही है। प्रश्न है धारणा का। जब तक यह धारणा नही छूटती, दिशा बदलती नही। यह सचाई है कि आदमी मे लोभ होता है पर लोभ से बडी धारणा अहकार की होती है, प्रतिष्ठा और पूजा की होती है। प्रश्न है—आज्ञा को शिरोधार्य कैसे करे? पूजा की, प्रतिष्ठा और बडप्पन की भावना प्रत्येक व्यक्ति के मन मे है। व्यक्ति की मौलिक मनोवृत्ति होती है अपने आपको सामने लाने की, अपने आपको प्रतिष्ठित करने की। ऐसे मे आज्ञा को शिरोधार्य करने की बात बडी टेढ़ी खीर है।

प्रतिस्रोत मे चलें

आचार्य भिक्षु ने केवल आज्ञा पर बल नही दिया। उन्होने मूल बल इस बात पर दिया कि प्रतिस्रोत मे चलो। जब तक प्रतिस्रोत मे चलना सम्भव नही होगा तब तक आज्ञा को शिरोधार्य करने की बात कभी सम्भव नही होगी। दुनिया का प्रवाह अनुस्रोत मे चल रहा है। अनुस्रोत मे चलने वाला आज्ञा को स्वीकृत नही कर पाता। यदि पूजा, प्रतिष्ठा, बडप्पन आदि की मौलिक धारणाए हमारे मस्तिष्क मे बनी रहे तो आज्ञा को मानने वाली बात कभी बनेगी नही। आज्ञा के लिए जरूरी है अकेला रहने की साधना करना।

धारणा बदले

हम यह धारणा बनाए—मुझे कोई नही पूछे। आदमी चाहता है—मुझे सभी पूछे और यही उसके दुःख का कारण बनता है। 'कोई मुझे नही पूछे', इस धारणा को लेकर जो चलेगा उसे कोई दुःखी नही बना पाएगा। जो मुनि है, जो मानसिक तनाव से बचना चाहता है, उसे अकेला रहने का

अभ्यास करना चाहिए। अकेलापन की धारणा को जीवनगत बनाना चाहिए। उसमे यह अनुभूति जागनी चाहिए--मैं अकेला हू। यह अनुभूति ही उसे दु ख और तनाव से बचा सकती है।

प्रत्यक्ष घटना

प्रसिद्ध उद्योगपति प्रभुदयाल डाबडी वाले की घटना मेरे सामने प्रत्यक्ष है। एक समय था—बडे-बडे मिनिस्टर उनके घर पर आते रहते, घण्टो उनके घर बैठे रहते, वही खाना-खाते। जब उन्हे पक्षाघात हो गया तब कोई नही आया। बीमारी से भी अधिक दु ख इस बात का हो गया कि बीमारी मे कोई पूछने नही आया। यह अकेलापन उनके दु ख का कारण बन गया। प्रभुदयालजी गुरु-दर्शन करने आए। मैंने कहा—पुरानी बाते याद करोगे तो पक्षाघात तो है ही, मानसिक पीडा भी होने लगेगी। एक काम करो—'ओ भिक्षु' की माला का जाप शुरू करो। जब भी समय मिले, जप मे लग जाओ। उन्होने इस बात को इतनी गहराई से पकडा कि सुखी बन गए। उनके भाई शिवचदरायजी ने कहा—हम लोग जाते तो वे दो मिनट बात करते और फिर अपनी माला शुरू कर देते। उनको यह अपेक्षा ही नही रही कि कोई मेरे पास आए, बात करे या मुझे पूछे।

सहज प्राप्त है आज्ञा

यह सूत्र हमारी समझ मे आ जाए कि मैं अकेला हू, अकेला जीना है, अपने आप मे रहना है तो जीवन सुखी बन जाए। जब यह धारणा स्पष्ट होती है तब 'सुगुरु आणा सिर धारिये' सुगुरु की आज्ञा मानने मे कोई कठिनाई नही होती। हमारा सम्बन्ध धर्म का सम्बन्ध है। यह शासक या शासित का सबध नही है। जहा गुरु और शिष्य का सबध है वहा आज्ञा तो सहज प्राप्त होती है। उसे न मानने की बात आएगी भी कैसे? गौतम महावीर से बडे थे पर जब उन्होने महावीर को गुरु मान लिया तब उनकी आज्ञा आत्मा बन गई। गौतम के लिए महावीर का वचन 'बाबा वाक्य प्रमाण' था। गौतम वेदो के पारगामी विद्वान थे, प्रतिष्ठित व्यक्ति थे, अवस्था मे भी महावीर से काफी बडे थे। किन्तु जब महावीर को गुरु मान लिया तब उनकी आज्ञा ही सब कुछ हो गई। यह अवस्था तब आती है जब धारणा बदलती है।

विनीत : अविनीत

जो प्रतिस्रोत मे चलेगा उसके लिए आज्ञा सहज ग्राह्य होगी। आचार्य भिक्षु ने कहा—आज्ञा मानने वाले और न मानने वाले मे एक अक्षर का फर्क है, ज्यादा नही। आज्ञा मानने वाला है विनीत। जो आज्ञा नही मानने वाला है उसके पीछे एक 'अ' और जोड दो। वह होगा,'अविनीत'। इतना सा फर्क है। धारणा अगर सही है तो वह विनीत हो जाएगा। धारणा अगर प्रतिस्रोत

मे चलने की नही है तो एक अक्षर पीछे और लग जाएगा।

शिष्यत्व का भाव प्रबल बने

मूल बात है आत्मा को बदलने की आज्ञा सहज मानी जाती है। जिसमे शिष्यत्व का भाव प्रबल बन गया, वह कभी भी आज्ञा का अतिक्रम नही कर सकता। वह आज्ञा ही नही, दृष्टि या इगित का भी अतिक्रम नही कर सकता। हम गुरुत्व को नही, शिष्यत्व को जगाए। शिष्यत्व होना बडी कठिन बात है। कितनी धारणाए और दृष्टिकोण बदलने पडते हैं इसके लिए। शिष्य और सहगामी होना बहुत कठिन बात है। जो शिष्य हो गया, सहज भाव से उसने आज्ञा को शिरोधार्य कर लिया।

परिचर्या : चार शर्तें

भगवान् बुद्ध जब ५६ वर्ष के हो गये, तब उन्होने कहा--मुझे एक परिचारक की जरूरत है। शालिपुत्र और मोद्गल—दोनो आए। उन्होने प्रार्थना की--भन्ते! हम आपके परिचारक होना चाहते है। बुद्ध ने स्वीकार नही किया। दोनो आनद के पास गये। उन्होने आनद से कहा—आप बुद्ध के परिचारक बन जाए। उन्होने बहुत प्रेरणा दी, बुद्ध ने भी आनद को याद किया। आनन्द आया। बुद्ध ने कहा, मुझे परिचारक की जरूरत है।

आनन्द ने कहा—मैं परिचारक बन सकता हू। पर मेरी कुछ शर्तें है। आप मेरी चार शर्तें स्वीकार करे तो मैं परिचर्या के लिए प्रस्तुत हो सकता हू—

मेरी पहली शर्त है--आप मुझे चीवर और पात्र नही देगे।

दूसरी शर्त है—आप मुझे अपने निवास स्थान मे नही रखेगे।

तीसरी शर्त है आप मुझे अपनी भिक्षा नही देगे।

चौथी शर्त है—आपको कोई निमत्रण आए तो आप मुझे अपने साथ नही ले जाएगे।

आनन्द ने सारी उल्टी बाते कह दी।

बुद्ध ने कहा—तुम्हे क्या कठिनाई है इसमे?

आनन्द ने कहा—शर्तें स्वीकार करने पर ही मै आपका परिचारक बन सकता हू। अन्यथा लोग कहेगे--आनन्द स्वार्थी है। वह स्वार्थ के लिए भगवान् का परिचारक बन गया।

कितनी गहरी बात है—लोग क्या कहेगे?

बुद्ध ने कहा—आनन्द! तुम्हारी चारो शर्तें मान्य है।

आनन्द बुद्ध का परिचारक बन गया।

यह आन्तरिक बदलाव है।

आज्ञा को आत्मसात करें

आज्ञा को शिरोधार्य वही कर सकता है, जिसकी आत्मा मे आज्ञा आत्मसात हो जाती है। जिसकी अन्तरात्मा मे स्वार्थ या लोभ का भाव जुडा है, वह न परिचारक बन सकता है, न आज्ञा को शिरोधार्य कर सकता है। आज्ञा को शिरोधार्य करने के लिए आनन्द जैसा शिष्यत्व चाहिए, खेतसीजी स्वामी जैसा शिष्यत्व चाहिए। वह शिष्यत्व हो तो सुगुरु की आज्ञा को शिरोधार्य करने मे कोई कठिनाई नही हो सकती।

प्रशिक्षण परम्परा

तेरापन्थ मे इस शिष्यत्व को विकसित करने की परपरा रही है। शिष्यत्व को बिकसित करने के लिए मस्तिष्क का प्रशिक्षण अपेक्षित है। शिष्य के मानस को अनेक उपायो से परिवर्तित कर उसके शिष्यत्व को जगाया जाता है। आचार्य भिक्षु ने तेरापन्थ मे इस प्रशिक्षण परपरा का सूत्रपात किया। उन्होने विनीत-अविनीत की चौपई की रचना की। सब शिष्यो को अनुशासन की दीक्षा मे प्रशिक्षित किया। श्रीमज्जयाचार्य ने उस पुण्य परम्परा को सपुष्ट बनाया। गण की सिद्धि के लिए आज भी आचार्य के लिए परपरा अवधारणीय है—

उपाय· परिवर्तस्य, प्रशिक्षणमिद ध्रुवम्।
प्रवृत्ताऽसौ गणे भिक्षोः, प्रशिक्षणपरम्परा ॥
चतुष्पदी विनीतस्याऽविनीतस्य विनिर्मिता।
अनुशासनदीक्षाया, सर्वशिष्याः प्रशिक्षिताः ॥
जयाचार्येण सपुष्टा, सैव पुण्या परम्परा।
अद्यापि सप्रधार्या सा, गणिना गणसिद्धये ॥

विनय और अनुशासन—ये दो ऐसे तत्त्व हैं, जिनमे प्रशिक्षित होने वाला व्यक्ति आज्ञा को सहजता से शिराधार्य कर सकता है। आचार्य भिक्षु ने विनय और अनुशासन के प्रशिक्षण का महान् अतिक्रम किया। उसका परिणाम है, तेरापथ धर्मसघ का प्रत्येक सदस्य अनुशासित और विनम्र है। वह आज्ञा को अपने जीवन से अधिक मूल्य देता है। अनुशासन, विनम्रता और आज्ञा को मानने की परम्परा जब तक चलती रहेगी, तेरापन्थ गतिशील बना रहेगा।

आज्ञा

तीसरा प्रश्न

बादशाह ने काजी साहब से कुछ प्रश्न पूछे। काजी साहब को उन प्रश्नो का उत्तर एक सप्ताह मे देना था। तीन दिन बीत गए, काजी साहब उन प्रश्नो के उत्तर नही ढूढ पाए, वे बडे खिन्न हुए। एक विद्यार्थी ने पूछा— आप आजकल इतने उदास क्यो है? काजी ने कहा- तुम अपना काम करो। विद्यार्थी ने कहा—आप कृपा कर बताए कि बात क्या है? कभी-कभी छोटा लडका भी किसी समस्या का समाधान खोजने मे सहायक हो सकता है। काजी ने कहा—बादशाह ने मुझसे तीन प्रश्न पूछे है, उनका उत्तर मुझे नही सूझ रहा है। इसलिए मैं उदास हू। लडके ने कहा-आप मुझे वे प्रश्न बताए। काजी ने तीनो प्रश्न बता दिए। लडके ने कहा—ये प्रश्न बहुत साधारण है। आप मुझे साथ ले चले, मे उत्तर दे दूगा। काजी विद्यार्थी को लेकर बादशाह के पास पहुचा। काजी ने बादशाह से निवेदन किया—जहापनाह! ये प्रश्न बहुत छोटे है। मेरा यह विद्यार्थी ही इनका उत्तर दे देगा। बादशाह की स्वीकृति पाकर विद्यार्थी ने उन प्रश्नो के उत्तर दे दिए। बादशाह का तीसरा प्रश्न था—खुदा क्या करता है? विद्यार्थी का उत्तर था—खुदा काजी को पाजी बना देता है और पाजी को काजी बना देता है। विद्यार्थी ने अपनी बात स्पष्ट करते हुए कहा—मेरा नबर आपके सामने कहा आने वाला था? यह खुदा की कृपा थी, जो मेरा नबर आ गया।

नींद पर अनुशासन

काजी पाजी बन जाता है और पाजी काजी बन जाता है। मालिक गुलाम बन जाता है और गुलाम मालिक बन जाता है। जिस मालिक का अपना अनुशासन नही होता वह मालिक गुलाम बन जाता है और जो गुलाम अपने अनुशासन को जगा लेता है, वह गुलाम मालिक बन जाता है। अपने अनुशासन के कुछ महत्त्वपूर्ण नियम होते है। पहला नियम है—जो व्यक्ति चिंता को साथ लेकर सोता है, वह व्यक्ति गुलाम होता है। मालिक वह होता है, जो सोना जानता है। दुनिया मे बहुत से लोग ऐसे हैं, जो सोना जानते ही नही हैं। गाधीजी सोना जानते थे। उनसे कहा गया—अभी ट्रेन आने मे दस मिनट बाकी है। गाधीजी बोले—नौ मिनट सो लेता हू। गाधीजी सो गए, नौ मिनट सोए रहे, दसवे मिनट मे जाग गए। हमारे एक श्रावक हुए

हैं पूनमचदजी आचलिया। उन्हे पाच मिनट का समय मिलता तो पाच मिनट के लिए सो जाते और पांच मिनट होते ही जाग जाते।

जो व्यक्ति केवल सोता है, वह मालिक होता है और जो चिंताए साथ लेकर सोता है, वह गुलाम होता है। पहला अनुशासन, जो अपने भीतर से निकलता है, वह है अपनी नीद पर अनुशासन।

आहार का अनुशासन

आदमी भोजन करता है तब केवल भोजन नही करता। दुनिया भर की बाते, व्यापार, राजनीति और इधर-उधर की बाते उस समय स्मृति-पटल पर उतरती रहती हैं। ऐसा व्यक्ति अपना मालिक नही हो सकता। जो भोजन के समय भोजन ही करता है, और इधर-उधर की बातो पर ध्यान नही देता, वह अपना मालिक होता है।

जो छुट्टी मनाना जानता है

जो व्यक्ति जीवन मे छुट्टी मनाना नही जानता, वह व्यक्ति गुलाम होता है। व्यक्ति के मानस मे एक गलत धारणा बन गई --मेरे बिना काम नही चलेगा, मैं छुट्टी कैसे मनाऊ ? जो व्यक्ति ऐसा सोचता है, वह सबसे बडा गुलाम होता है। दुनिया सदा चली है, चलती रहेगी। किसी भी व्यक्ति के बिना न कोई काम कभी रुका है, न रुकेगा ! कितने बडे-बडे लोग आए, चले गए किन्तु दुनिया मे कुछ भी फर्क नही पडा। सिकन्दर चला गया, ब्रह्मदत्त जैसे चक्रवर्ती चले गए, फिर भी यह दुनिया चल रही है। महात्मा गाधी, पडित नेहरू, इदिरा गाधी और राजीव गाधी चले गए तो भी कोई फर्क नही पडा। हम इस तथ्य को समझे --जो व्यक्ति असली छुट्टी मनाना नही जानता और इस मोह मे रहता है- मेरे बिना काम नही चलेगा, वह गुलाम है। जो छुट्टी मनाना जानता है, वह मालिक है।

संयम और नियम का ज्ञान

चौथा नियम है— जो सयम और नियम को नही जानता, वह गुलाम है। वह अपना मालिक है, जो सयम और नियम का जानता है। बहुत से लोग न सयम को जानते है, न नियम को जानते है। प्रश्न होता है—जिसके जीवन मे कोई सयम और नियम नही है, वह कोई आदमी है क्या ? व्यक्ति चाहे परम सत्ता के सिहासन पर बैठा है किन्तु यदि उसका अपना जीवन सयम और नियम से शून्य है तो वह गुलाम ही रहेगा, कभी मालिक नही बन सकेगा।

अनुशासन : पहली शर्त

अनुशासन का मतलब है—अपना मालिक बनना। हम बच्चो मे अनुशासन पैदा करना चाहते है। अनुशासन की पहली शर्त है—जिनमे अनु-

शासन पैदा करना चाहते हैं, उन्हे अपने विश्वास मे ले। जब तक अनुशिष्य-मान अपने पुत्रो को, विद्यार्थियो और अपने अधीनस्थो को विश्वास मे नहीं लेगा तब तक अनुशासन कभी फलित नही होगा।

दूसरी शर्त

दूसरी शर्त है जिनमे अनुशासन पैदा करना है, उनमे आत्मविश्वास पैदा करें। यदि आत्मविश्वास पैदा नही होगा तो अनुशासन कभी नही आएगा। यदि विद्यार्थी मे हीनभावना है तो अनुशासन आएगा कहा से ? अनुशासन के लिए जरूरी है—आत्म-सम्मान और आत्म-विश्वास पैदा किया जाए।

तीसरी शर्त

तीसरी शर्त है—जिसमे अनुशासन पैदा करना है, उसे द्रष्टा बनाया जाए, दर्शन पढाया जाए। ज्ञाता-द्रष्टा होना केवल साधना की दृष्टि से नही, अनुशासन के जागरण की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है।

एक दार्शनिक हुआ है तारावबाटो। उसने पढना शुरू किया। पिता ने कहा—तू अयोग्य है। मैने तुझे कहा था—तू विधिशास्त्र पढ। वकालत से बहुत पैसा आएगा। पुत्र ने कहा—मैने दर्शन पढना इसलिए शुरू किया है ताकि आपकी भर्त्सना को विनम्रतापूर्वक सुन सकू, सहन कर सकू। अगर मैं तार्किक होता तो आप एक कहते और मै आपको पाच सुना देता। मै कभी भी विनम्रतापूर्वक आपकी बात को सहन नही करता।

अनुशासन तब आता है जब जीवन मे देखने की शक्ति आती है। जिसमे देखने की शक्ति नही जागती, जो तर्क के आधार पर अपना जीवन चलाता है उसमे कभी अनुशासन नही आ सकता।

प्राकृतिक नियमो का सम्मान

अनुशासन का मार्ग है—सचाइयो को देखना, प्रकृति के नियमो को जानना, सघीय और सामाजिक नियमो को जानना। नियम बहुत बडा सत्य है। हम प्रकृति के नियमो का सम्मान करे। वैज्ञानिक युग मे जीने वाला व्यक्ति अपना अनुशासन तो खो ही चुका है, प्रकृति के नियमो को भी उलट रहा है। अनुशासन तब आता है जब हम प्रकृति के नियमो का पालन करते हैं। प्राकृतिक नियमो का उल्लघन करना मानो वैज्ञानिक युग का वरदान बन गया। अनुशासन तब आएगा जब हम यह चिंता करे—पृथ्वी के साथ कैसा बर्ताव करना चाहिए ? खनिजो और जगलो के प्रति हमे कैसा बर्ताव करना चाहिए ? जब सारे ही नियमो का अतिक्रमण हो रहा है तब अनुशासन की बात क्या करें ? मुझे कभी-कभी ऐसा लगता है—इस वैज्ञानिक युग मे, भौतिकता प्रधान युग मे नियमो और अनुशासन की बात करनी चाहिए या

मौन हो जाना चाहिए। प्राकृतिक नियमो का सम्मान ही नहीं है तो कृत नियमों का सम्मान कैसे हो पाएगा ?

प्रश्न अनुशासन के स्पर्श का

अनुशासन की बात करना सहज है किन्तु उसे उपलब्ध होना बहुत कठिन है। प्रश्न है—अनुशासन का स्पर्श कैसे करे ? कौन अनुशासन का जीवन जी सकता है ? इस प्रश्न का समाधान है—

उपादेये स्थिरा बुद्धिः, हेयं यो हातुमिच्छति।
सयमो नियमो लब्धः, स स्पृशत्यनुशासनम् ॥
धृतिः सहिष्णुता शक्तिरात्मविश्वाससंपदा।
यस्मिन्नेते गुणाः सति, स स्पृशत्यनुशासनम् ॥

अनुशासन का स्पर्श वह कर सकता है, जिसमे उपादेय की चेतना जाग चुकी है।

जिसके जीवन मे सयम और नियम है, वह अनुशासन को छू सकता है। धृति, सहिष्णुता, शक्ति और आत्मविश्वास— ये चार गुण जब तक नही आएगे, तब तक अनुशासन की अर्हता उदभूत नही होगी। जब तक इन चार गुणो का विकास नही होगा, तब तक अनुशासन के लिए उपर्युक्त वातावरण निर्मित नही होगा। इस स्थिति मे हमारे लिए अनुशासन की बात करना कोई महत्त्व नही रखता।

मुनि और अनुशासन

एक मुनि अनुशासन का पालन करता है तो कोई आश्चर्य नही होता क्योकि वह एक चीटी के अनुशासन को भी मानता है। चीटी इधर आना चाहती है तो मुनि रास्ता छोड देगा, चीटी आगे बढ जाएगी। जो एक चीटी के अनुशासन को मानता है, वही बडी बात को भी मान सकता है। चीटी सामने आई, एक बार उसे हटा दिया। यदि इसी प्रकार वह बार बार आती है तो सामान्य व्यक्ति उसे कुचल डालता है। मक्खी-मच्छर बार-बार बैठते है तो वह उसे पीस डालता है। जो व्यक्ति छोटे जीवो को सताने मे रस लेता है, वह कैसे अनुशासन पालेगा ? अनुशासन वह पाल सकता है जो मिट्टी को भी नही सताता। जैन मुनि का नियम है—मार्ग मे बजरी या खोदा हुआ खनिज पडा है तो वह उसके ऊपर पैर रखकर नही जाएगा।

सम्मान करना सीखें

जो प्रकृति के हर पदार्थ को सम्मान देना जानता है, वह व्यक्ति अनुशासन को पाल सकता है। जिसके लिए अपने से छोटे कुछ भी नही हैं, हम उनसे क्या आशा करे ? क्या वे समाज मे अनुशासन लाएगे ? कैसे सम्भव है ? यदि समाज मे अनुशासन लाना है, सामाजिक चेतना को जगाना है तो उससे

पहले वह चेतना जगानी होगी, जिससे व्यक्ति प्रकृति के नियमों का सबसे पहले पालन करे। छोटे से छोटे प्राणी का अनुशासन माने, उनका सम्मान करे। व्यक्ति प्रत्येक प्राणी का सम्मान करना सीखे तो भीतर से अनुशासन जागेगा। अन्यथा यह अनुशासन जगाने की बात हमारी कल्पना ही रहेगी। यथार्थ के स्तर पर घटित नही होगी। हम प्राणी का सम्मान करना सीखें, अनुशासन हमारे जीवन मे अवतरित हो जाएगा।

अनुशासन

अनुशासन का नया रूप

वर्तमान युग मे अनुशासन का नया रूप है सामूहिक मनोबल। एक होता है व्यक्तिगत मनोबल और एक होता है सामूहिक मनोबल। आज के चिन्तको ने सामूहिक मनोबल पर काफी विचार किया है। एक सगठन के लिए सामूहिक मनोबल बहुत आवश्यक होता है।

सामूहिक मनोवल का पहला लक्षण है आत्म-नियन्त्रण। सघ और सगठन के सभी सदस्यो मे आत्म-नियन्त्रण होता है तो समझना चाहिए--सामूहिक मनोबल ठीक बढ रहा है।

दूसरा लक्षण है—आत्म-विश्वास। प्रत्येक व्यक्ति को आत्म-विश्वास होना चाहिए, भरोसा होना चाहिए। ऐसा होता है तो कहा जा सकता है—सामूहिक मनोबल ठीक चल रहा है।

तीसरा लक्षण है—अनुशासन मानने की क्षमता। केवल गुरु बनने की नही, शिष्य बनने की क्षमता।

अच्छे गुरु की कसौटी

जो शिष्य नही बनता, वह कभी गुरु बन ही नही सकता। प्राकृत साहित्य मे इस पर काफी लिखा गया है। एक सूत्र बन गया—

सीसस्स हुंति सीसा, न हुंति सीसा असीसस्स—शिष्य उसी के होते हैं, जो शिष्य होता है। अशिष्य के शिष्य नही होते।

अच्छे गुरु की कसौटी है कि वह कभी अच्छा शिष्य रहा है। एक व्यक्ति अपने पर अनुशासन करता है। एक व्यक्ति दूसरे पर अनुशासन करता है और एक व्यक्ति अपने पर भी अनुशासन करता है, दूसरे पर भी अनुशासन करता है। जो अपने और पराए—दोनो पर अनुशासन कर सकता है, वह गण परपरा की वृद्धि के लिए उपयुक्त माना जाता है।

आत्मानुशासक. कश्चित्, कश्चित् परानुशासकः।
द्वयानुशासको युक्त:, गणसन्ततिवृद्धये ॥

जो दूसरो पर अनुशासन करता है, किन्तु अपने पर अनुशासन करना नही जानता, वह न अच्छा शिष्य हो सकता है और न अच्छा गुरु बन सकता है।

चौथा लक्षण है—अपने प्रति विश्वास, अपने लक्ष्य के प्रति विश्वास,

अपने साधर्मिको के प्रति विश्वास, अपने नेता के प्रति विश्वास। यह विश्वास की चतुष्टयी होती है तो सामूहिक अनुशासन ठीक चलता है।

सामूहिक मनोबल : कसौटी

सामूहिक मनोबल को मापने के लिए कुछ कसौटिया हैं। पहली कसौटी है—संगठन के सदस्य कितने स्वस्थ और प्रसन्न रहते हैं। क्या प्रसन्नता बनी रहती है ? क्या मानसिक स्वस्थता रहती है ? साधु एक-दूसरे को कितना चाहते हैं ? हमारे धर्मसघ मे बाहर से जब एक ग्रुप आता है तो पहले मिलन होता है फिर उसकी भक्ति होती है। लोगो पर यह प्रभाव पडता है कि कितना सौहार्द है, कितना प्रेम है। एक-दूसरे को चाहना, एक-दूसरे का सम्मान करना, यह सामूहिक मनोबल की बहुत बडी कसौटी है। साधु-साध्विया कितने स्वस्थ है ? चिन्तन का स्वास्थ्य, व्यवहार का स्वास्थ्य और विचार का स्वास्थ्य : जहा इनकी स्वस्थता नही होती वहा अच्छे सगठन की कल्पना नही की जा सकती।

आचार्य भिक्षु की सीख

तेरापंथ धर्मसघ की मर्यादाओ के सन्दर्भ मे आचार्य भिक्षु ने एक सीख दी—

'सगला रे सगला साध ने साधवी राखज्यो हेत विशेख।'

यह बात सगठन के लिए प्राणशक्ति है। परस्पर मे प्यार-सौहार्द होता है तो सगठन ठीक चलता है। एक-दूसरे को काटने लग जाते है तो स्थिति उलट जाती है। एक-दूसरे के प्रति सौहार्द होना सगठन के स्थायित्व का मूल मत्र है। सगठन की सबसे बडी प्राणशक्ति है—सदस्यो मे परस्पर विश्वास होना, एक-दूसरे को चाहना। यदि विश्वास प्रबल होता है तो अनेक समस्याए अपने आप सुलझ जाती है।

संगठन का मनोविज्ञान

आचार्य भिक्षु सगठन के मामले मे बहुत दूरदर्शी थे। उनके तत्त्वज्ञान के विषय मे लिखा गया, दार्शनिक पक्ष और आचार के पक्ष पर भी काफी लिखा गया। आज जो नई धाराए विकसित हुई हैं—समाज मनोविज्ञान, सगठन का मनोविज्ञान, इन विषयो के सन्दर्भ मे आचार्य भिक्षु को नही समझा गया। अगर इन सदर्भों मे आचार्य भिक्षु को पढा जाए, उन्हे आधुनिक समाज मनोविज्ञान के सन्दर्भ मे प्रस्तुत किया जाए तो कुछ नये सूत्र उद्घाटित हो सकते है।

पारस्परिक सौहार्द

परस्पर सौहार्द का भाव सामूहिक मनोबल के लिए प्राणशक्ति है। हमने देखा है—यदि साधु-साध्वियो मे परस्पर थोडी-सी भी कोई बात होती है

और आचार्य को यह पता लग जाता है कि आपसी सौहार्द मे कही कमी है तो उसी समय सौहार्द के विकास का प्रयत्न शुरू हो जाता है।

आचार्य की अनेक विशेषताए बतलाई गई हैं। उनकी एक विशेषता है—अधिकरण (कलह) उत्पन्न न होने दे। अगर अधिकरण हो जाए तो उसे उपशात करे। आचार्य की कसौटी भी यही मानी गई—स्वय अधिकरण मे जाता नही है और अधिकरण उत्पन्न होता है तो उपशात करता है। वह अधिकरण पुन न उभरे, ऐसा प्रयत्न करना है। सामूहिक मनोबल के लिए इसका विकास आवश्यक होता है।

विश्वास

दूसरे विश्व युद्ध मे जिन लोगो ने बडे-बडे युद्धपोतो को तोडा, जिन सैनिको ने खुद का आत्म बलिदान करके बम गिराए, अनेक युद्धक विमानो को धराशायी किया, उसका कारण क्या था ? उनमे अनुशासन था। वे अपने अधिनायक का आदेश पाते ही जान देने को तत्पर रहते। यह चेतना आज नही है, ऐसी बात नही है। अपने राष्ट्र के लिए, अपने समाज के लिए उत्सर्ग करने वालो की, बलि देने वालो की आज भी कमी नही है बशर्ते कि वैसी चेतना जाग जाए। आचार्य के प्रति भी इतना विश्वास जाग जाए—वे जो करेंगे, मेरे हित के लिए करेंगे। विश्वास इस स्थिति तक पहुच जाए—आचार्य कहे—यह तालपुट जहर है और इसे तुम्हे खाना है। शिष्य उसे खा ले और यह भी न पूछे—क्यो खाना है मुझे।

जापान : प्रगति का रहस्य

जहा इतना विश्वास होता है, वहा समाज सामूहिक मनोबल वाला होता है। सामूहिक मनोबल मे कुछ नए अभिक्रम सामने आते हैं। जापान का उदाहरण सबके सामने है। तमिलनाडु मे भी इसका कुछ विकास मिलता है किन्तु जापान मे सामूहिक मनोबल का बहुत विकास मिलता है इसीलिए एक छोटा-सा राष्ट्र पूरी दुनिया मे सबसे आगे बना हुआ है। आज इस टेक्नॉलोजी के युग मे पूरी दुनिया उससे पीछे है। जापानी लोगो मे इतनी श्रमनिष्ठा है, तन्मयता, एकाग्रता और लगन है, देश के प्रति अटूट प्रेम है। ये सारी बातें सामूहिक मनोबल की परिचायक है। तेरापथ धर्मसघ ने धर्मशासन के क्षेत्र मे इस दिशा मे बहुत विकास किया है। उसमे हमारे पूर्वाचार्यों, साधु-साध्वियो, श्रावक-श्राविकाओ—सबका बडा योग रहा। यह उन का प्रमुख कर्त्तव्य रहा है—कैसे सामूहिक मनोबल बना रहे।

सामूहिक मनोबल : सफलता का सूत्र

व्यक्तिगत मनोबल होना एक बात है, सामूहिक मनोबल होना बिलकुल दूसरी बात है। जहा सामूहिक मनोबल होता है वहा सफलता की कामना की

जा सकती है। सफलता हर किसी को नही मिलती। सब सफलता चाहते हैं। अनेक धर्मसघ भी यह चाहते हैं—हम इस दिशा मे सफल बनें पर वे सफल नही होते। इसका कारण यह है—सामूहिक मनोबल नही है।

तेरापथ मे आगम-सपादन का कार्य शुरू हुआ, अन्यत्र भी यह कार्य शुरू हुआ पर आगे नही बढा। हमारा कार्य आगे बढा, सफलता भी मिली। प्रश्न हो सकता है—हमे सफलता क्यो मिली? इसका कारण स्पष्ट है—जहां सामूहिक मनोबल होता है वहा काम बहुत आगे बढ जाता है। पहले वर्ष में बत्तीस आगमो की शब्दसूचिया बनी। यह सामूहिक मनोबल से ही सभव हो सका।

आचार्य की कसौटी

सामूहिक मनोबल ही दिव्य चेतना है। इस सामूहिक मनोबल को बनाए रखने के लिए आचार्य को सहिष्णु होना होता है। आज के सदर्भ मे आचार्य की सबसे बडी कसौटी है सहिष्णुता। नेता जितना सहिष्णु होगा उतना ही वह सामूहिक मनोबल बनाए रख सकेगा। नेता अपने सघ के सदस्यों को प्रोत्साहन देगा, उनके कार्यों की प्रशसा करेगा, उनके गुणो का सवर्द्धन करेगा तब सामूहिक मनोबल बढ़ेगा। जब नेता स्वय अपने सदस्यो की कमिया ही कमिया दिखाना शुरू कर देता है, उनकी हीनता दिखाना शुरू कर देता है तब सामूहिक मनोबल गिर जाता है। आचार्य की यह सहिष्णुता है कि वह शिष्यो को प्रोत्साहन दे, उनके अच्छे कार्यों का वर्धापन करे। इससे सघ वृद्धि को प्राप्त होता है।

शिष्या प्रोत्साहनं नेयाः, कार्यं वर्धापनं वरम्।
आचार्यस्य सहिष्णुत्वं, इदं संवर्धयेद् गणम्॥

नेतृत्व का गुण

हमारे सघ की यह विशेषता रही है। आचार्यों ने साधुओ की जितनी स्तवना की है उतनी शायद और कही हुई है या नही? यह खोज का विषय है। इस प्रकार की परम्परा ही शायद कही नही है। भगवान् महावीर के जमाने को ही ले। एक श्रावक ने भी अगर कोई उत्तम कार्य किया तो उसका बडा सम्मान किया गया। यह सहिष्णुता नेतृत्व का गुण है। जहा इस प्रकार की घटनाए होती हैं वहा होता है सामूहिक मनोबल का विकास। जहा सामूहिक मनोबल बढता है वहा सघ स्वस्थ और चिरजीवी बनता है।

शासन कल्पतरु

शासन और शास्त्र—इन दोनो की व्याप्ति है। दोनो मे अन्योन्य सबध है। जितना अधिक मूल्य होगा शास्त्र का उतना ही अधिक मूल्य होगा शासन का। शास्त्र का मूल्य नही तो शासन का मूल्य भी नही। शासन शब्द का निरुक्त है—**शासनात्त्राणशक्तेश्च शास्त्रमित्यर्भिधीयते।**

त्राण : शासन

दो अक्षर का शब्द है -शास्त्र। शास्त्र वह है, जिसमे शासन करने की क्षमता है तो साथ मे त्राण देने की क्षमता भी है। कोरा नियत्रण और शासन हो तो उसे कोई नही मानेगा। कल्पतरु का मूल्य इसीलिए है कि वह त्राण देता है, रक्षा करता है। शासन की शक्ति कब टिकती है? त्राण की शक्ति हो तो शासन की शक्ति टिक सकती है। त्राण की शक्ति के बिना शासन की शक्ति का कोई अर्थ नही होता।

दोनो बाते जुडी हुई हैं -शासन और त्राण। त्राण है तो शासन है और शासन है इसलिए त्राण है। जब दोनो मिलते है तब उसका नाम सार्थक होता है—'शास्त्रम्'। हम शासन और शास्त्र को अलग नही कर सकते। शासन कल्पतरु इसीलिए बनता है कि उसमे शासन के साथ-साथ त्राण देने की क्षमता निहित है।

संबधन

एक सामाजिक या धार्मिक सगठन मे कुछ अभिप्रेरणाए होती है, प्रेरक होते हैं। इन अभिप्रेरको के कारण शासन कल्पतरु बनता है। शासन का एक अभिप्रेरक होता है - सम्बन्धन -सम्यक् बधन। उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा गया -**सहायमिच्छे निउणत्थबुद्धि** मुनि जीव और पदार्थ के प्रति निपुण बुद्धि वाले गीतार्थ को सहायक बनाए। ऐसे सहायको को खोजना, जो धर्म के विकास मे सहायक बन सके, सहायता दे सके। सहायको की खोज, यह है पहला काम।

शक्ति का विकास

दूसरा अभिप्रेरक है शक्ति का विकास। प्रत्येक व्यक्ति का यह सहज स्वभाव है कि वह शक्ति का अर्जन करना चाहता है। कोई भी कमजोर रहना नही चाहता। शक्ति कहा से मिलती है? वह मिलती है शासन से। व्यक्ति शासन से जुडा है तो शक्ति का स्रोत खुला रहता है। शासन से टूटता है तो

शक्ति का स्रोत समाप्त हो जाता है।

वृक्ष से टूटने वाला फूल और टहनी शक्तिहीन हो जाती है। जीवट और जीवंतता तब तक रहती है जब तक वह वृक्ष से जुडा रहता है। शक्ति का स्रोत है वृ त के साथ जुडे रहना। हम देखते हैं—दो-तीन मुनि या चार-पाच साध्विया कितनी ही दूर चली जाए, उन्हे यह महसूस नही होता कि हम दो हैं या चार है। उनके पीछे शासन की समग्र शक्ति और सघन ऊर्जा लगी रहती है। शासन कल्पतरु इसलिए बना कि जो इसके साथ जुड जाता है, उसकी शक्ति बढ जाती है। वह समुद्घात से जुडा रहता है। उसे यह अनुभव होता है कि मेरे साथ कोई है, मेरे पास कोई खडा है। अगर पीछे कोई शक्ति न हो तो अकेले इतनी दूर जाना बडा कठिन होता है।

परहित साधना

तीसरी बात है—शासन कल्पतरु है लेकिन वह उसके लिए है, जो कल्पवृक्ष से कुछ लेना भी जाने, कल्पना करना भी जाने। कल्पवृक्ष से लाभ उठाने का सबसे बढिया तरीका है—परहित साधना की भावना। दूसरो के लिए मैने क्या किया ? इसाई परपरा मे परार्थ को बडा मूल्य दिया गया। यह कहा जाता है—तुम यहा क्या करते हो, इसका सारा लेखा-जोखा आगे होगा। कोई स्वर्ग मे जायेगा तो पूछा जाएगा—क्या धर्म किया ? कितना परोपकार किया, कैसा आचरण किया ?

इसाई साहित्य मे भी ठीक ऐसा ही वर्णन मिलता है— तूने दूसरो के लिए क्या किया ? परहित के लिए क्या-क्या किया ?' ईश्वर के दरबार मे ये प्रश्न पूछे जाए या न पूछे जाए किंतु जहा शासन और सगठन का प्रश्न है वहा यह निश्चित बात है—शासन कल्पवृक्ष का वही लाभ ले सकता है, जो परहित के लिए कुछ करता है। जिसमे दूसरो की भलाई करने की मनोवृत्ति है, वह शासन कल्पवृक्ष से लाभ उठा सकता है। जिसमे सिर्फ स्वार्थ भावना है, अपना ही स्वार्थ पूरा कर लेने की लालसा है, वह कल्पवृक्ष को पाकर भी लाभ नही उठा सकता।

अपने लिए नहीं दूसरो के लिए

सौभाग्य से हमारे धर्मसघ मे यह सस्कार मिलता रहा है और सदा मिलता रहेगा—दूसरो के लिए खपना। आश्चर्य है—आज जितने भी सम्प्रदाय है, सगठन है, उनमे शिष्यो का अध्ययन दूसरो के द्वारा चलता है। तेरापन्थ धर्मसघ मे अध्ययन स्वतन्त्र चलता है। सब कुछ गुरु परम्परा से चल रहा है। यह परहित साधना की बात है। हमारे सघ मे एक नया बीज बोया गया—अपने लिए नही, दूसरो के लिए। यही सस्कार फलता चला गया। दूसरो का काम करना मात्र नही, किंतु दूसरो को सस्कार देना भी मुनि का दायित्व

रहा है। एक साधु नया दीक्षित हुआ, उसे सस्कार देने मे साधु बहुत खपते हैं। उसे साचे मे ढालते हैं। शुरू से ही उसके मस्तिष्कीय प्रशिक्षण की बात प्रारम्भ हो जाती है। ऐसे सस्कारो का निर्माण हो जाता है कि हमे शासन मे इस प्रकार रहना और ऐसे जीना है।

यह परहित वाली बात न हो तो क्यो कोई व्यक्ति दूसरो के लिए समय लगाएगा ?

दूसरों के हित को प्राथमिकता दें

हमारे धर्मसघ मे ऐसे साधु हुए हैं, जो नव दीक्षित मुनियो को सस्कारित करने मे अपना सारा जीवन लगा देते और इसीलिए कल्पतरु बना है यह शासन। जिस सघ मे परहित साधना की भावना नही होती, वह शासन कभी कल्पतरु बन नही सकता। हम स्वय देखते हैं, यदि आचार्यश्री मे अपने स्वार्थ की बात होती तो वे इतने महान् नही बनते। प्रारम्भ से ही आचार्यवर ने दूसरो के लिए बहुत किया। जहा ऐसी मनोवृत्ति होती है, शासन कल्पतरु बनता है। यह ध्यान निरन्तर बना रहे—कोरा अपना स्वार्थ न साधे, दूसरो को प्राथमिकना दे। जहा दूसरो को प्राथमिकता नही दी जाती वहा शासन कभी कल्पतरु नही बन सकता। दूसरो के हितो को प्राथमिकता देना, उन्हे तैयार करना, यह बात समझ मे आए तो शासन कल्पतरु बन जाए।

समाज का ऋण

एक विचारक ने लिखा—अगर अपने बेटे को तैयार करना है तो उसे छह गलतियो से बचाना अपेक्षित है। जो इन गलतियो से बचाएगा, उसका लडका अच्छा बनेगा। उन छह तत्त्वो मे एक यह है—जो माता-पिता अपने बच्चे को यह नही समझाते कि समाज का तुम्हारे पर कितना ऋण है, वह बच्चा कभी अच्छा नही बन सकता। समाज का ऋण प्रत्येक व्यक्ति पर होता है। जो समाज मे रहता है, शासन मे रहता है, सगठन मे रहता है, उस पर वह ऋण होता है। साधु-साध्वी पर भी वह ऋण होता है। उसे तभी चुकाया जाता है, जब दूसरो को तैयार किया जाता है।

अपना हित : परहित

शासन कल्पतरु तब बनता है, जब यह तीसरी अभिप्रेरणा प्रबल बने—जितना अपना हित, उतना ही मूल्य दे परहित को। बहुत बार तो परहित साधना मे अपना हित ज्यादा सधता है। आज हमारे साधु-साध्विया इतने तैयार और इतने प्रबुद्ध नही होते तो क्या आचार्यश्री का इतना महत्त्व बढता ? कभी नही बढता। सुनने को यही मिलेगा—देखो! आचार्यश्री ने अपने शिष्यो को, अपने परिवार को कितना शक्तिशाली बना दिया। यह परहित साधना की महिमा है।

अनुमोदन

चौथी अभिप्रेरणा है—अनुमोदन। जिस शासन मे अनुमोदन की अभिप्रेरणा नही होती, वह शासन कल्पतरु नही बन सकता। प्राचीन आचार्यों ने प्रतिक्रमण आदि के सदर्भ मे कुछ महत्त्वपूर्ण बाते लिखी हैं, उनमे दो बाते मुख्य हैं —वह व्यक्ति अपना कल्याण कर सकता है, जिसमे गर्हा और अनुमोदना—ये दोनो शक्तिया विकसित हो। जो दुष्कृत की गर्हा करता है और सुकृत का अनुमोदन करता है, वह आगे बढ सकता है।

बहुत महत्त्वपूर्ण है दूसरे के श्रेष्ठ विचार का, व्यवहार और कार्य का अनुमोदन करना। हमारे सघ मे इसे बहुत मूल्य मिला है। प्रोत्साहन और अनुमोदन की परम्परा रही है। अनुमोदन बहुत बडी शक्ति है। सचमुच शासन कल्पतरु बन जाता है इस अनुमोदन के द्वारा।

शासन कल्पतरु

ये अभिप्रेरणाए होती हैं तभी शासन कल्पतरु बनता है। कल्पवृक्ष वस्त्र और खान-पान दे सकता है पर वह मानसिक तुष्टि नही दे सकता। यह सामर्थ्य इन अभिप्रेरणाओ मे ही है और किसी मे यह सामर्थ्य नही है। शासन मे वह सामर्थ्य है, जो शारीरिक अपेक्षाओ को पूरा करता है, मानसिक एव भावनात्मक सतुष्टि भी देता है। इसलिए यह कहना सगत है—शासन एक ऐसा कल्पवृक्ष है, जिसकी छाह मे बैठकर हर व्यक्ति अपने आपको आनदित अनुभव कर सकता है।

संघबद्ध साधना के सूत्र

सघबद्धता दो तरह की होती है- एक व्यक्ति के भीतर मे सघ होता है और एक बाहर भी सघ होता है। जो बाहर मे सघबद्ध रह रहा है और सामजस्य नही कर पा रहा है तो भी साधना सभव नही है। जो भीतर मे सघबद्ध रह रहा है और सामजस्य नही कर पा रहा है तो भी साधना सभव नही है।

अहकार-विलय

साधना का पहला सूत्र है— अहकार-विलय। यह सघबद्ध साधना की पहली शर्त है। यदि अहकार शात नही है तो सघबद्ध साधना कभी सभव नही है। सघ का मतलब है सारे सदस्यो के अहकार का विलयन। जहा अहकार का विलयन नही है वहा सघ नही है। कहा गया—आणाजुत्तो सघो। जो आज्ञायुक्त होता है, उसका नाम है सघ। आज्ञा का मतलब है अहकार का विलयन। आज्ञा और अहकार—दोनो साथ नही चल सकते। सघ के सदस्य मे ही नही, सघ के नेता मे भी सबके अहकार का सामजस्य होता है, विलय होता है। आचार्यवर ने एक दिन कहा था—जिस सघ मे साधु आचार्य को कह सके और आचार्य उसे सुन सके, वह सघ अच्छा और तेजस्वी होता है। जिस सघ मे यह नही होता, वह अच्छा और तेजस्वी सघ भी नही हो सकता। सघ मे आचार्य भी ऐसे हो जो कोई बात हर किसी को कह सके। जिस सघ मे शासित और शासक दोनो मे कहने की क्षमता होती है, उस सघ मे साधना सभव बन सकती है।

आत्म-निरीक्षण

सघबद्ध साधना का दूसरा सूत्र है—आत्म-निरीक्षण। कोई कितना ही कहे यदि आत्म-निरीक्षण की प्रवृत्ति नही है तो सघीय जीवन मे रहना मुश्किल बना रहेगा। यदि साधु-साध्वियो मे आत्म-निरीक्षण की प्रवृत्ति बढेगी, अपने आपको देखने की क्षमता जागेगी तो सघ तेजस्वी बनेगा, शक्तिशाली बनेगा। दूसरे व्यक्ति का काम है अगुलीनिर्देश करना। यदि आत्म-निरीक्षण की चेतना नही जागती है तो अगुलीनिर्देश निरर्थक सिद्ध होगा और उसके बिना सघबद्ध साधना की कल्पना साकार नही हो पाएगी।

अपूर्णता का बोध

सघबद्ध साधना का तीसरा सूत्र है अपूर्णता का बोध। यदि प्रत्येक

व्यक्ति को अपनी अपूर्णता की स्पष्ट अनुभूति है तो सघबद्ध साधना सभव है। अगर अपनी अपूर्णता की अनुभूति नही है, सब व्यक्ति अपने आप को पूर्ण मान लेते हैं तो महाभारत वाली स्थिति हो जाती है। महाभारत में कहा गया —

यत्र सर्वेऽपि नेतारः सर्वे पण्डितमानिनः।
सर्वे महत्त्वमिच्छन्ति, तद्देशं दुःखभाग् भवेत् ।।

जिस देश मे सबके सब नेता बने रहते हैं, सब अपने आप को पडित मानते हैं, सब मे महत्त्वाकाक्षा जाग जाती है, सारे महत्त्व चाहते है, वह देश दु ख से उबर नही सकता, बच नही सकता।

अपनी अपूर्णता का अनुभव करना सघबद्ध साधना का मुख्य सूत्र है। कोई भी पूर्ण नही है। अगर व्यक्ति पूर्ण है तो साधना के लिए उसका आना व्यर्थ है। वह क्यो सघ मे आए, किसलिए सघ मे आए ? उसे छुट्टी ले लेनी चाहिए, आना ही नही चाहिए। व्यक्ति मे यह अनुभूति तीव्र हो — मेरे भीतर अपूर्णताए है, कमजोरिया है और उन्हे मिटाना है, रिक्तताओ को भरना है। यह अनुभूति जितनी तीव्र होती है सघबद्ध साधना सभव बनती है, अन्यथा वह सभव नही हो सकती।

पारस्परिक सहयोग

सघबद्ध साधना का चौथा सूत्र है—पारस्परिक सहयोग। प्रत्येक व्यक्ति को सहयोग की अपेक्षा है। वह सोचता है—मुझे सहयोग देना है, सहयोग लेना है। मै अकेला रहने मे समर्थ नही हू। मै निरपेक्ष जीवन जीने मे समर्थ नही हू। यह अनुभूति प्रबल बनती है तो सघबद्ध साधना सभव होती है। सापेक्षता की अनुभूति सघबद्ध साधना का मूल सूत्र है।

संविभाग

सघबद्ध साधना का पाचवा सूत्र है—सविभाग और स्वार्थ-सीमा मे विश्वास। जिसका सविभाग मे विश्वास नही है, उसके लिए सघबद्ध साधना सभव नही है। जो सविभाग करना नही चाहता, अकेला ही अपने आपको भरना चाहता है, वह सघबद्ध साधना नही कर सकता। मुझे सारी सुविधा मिले, मुझे अच्छा कपडा मिले, मुझे अच्छा स्थान मिले, गर्मी की मौसम मे ठण्डा-ठण्डा पानी मिले, जो इस प्रकार केवल अपनी चिन्ता करता है वह सघबद्ध साधना का अधिकारी नही है। जयाचार्य ने लिखा—जो स्वार्थ की सीमा करना जानता है, सविभाग करना जानता है, उस मुनि को कोई पराभूत नही कर सकता। जो अपनी पानी मे विश्वास नही करता, सविभाग मे विश्वास नही करता, स्वार्थ की सीमा मे विश्वास नही करता, वह सामूहिक जीवन मे सफल नही हो सकता।

जो रस बाटना जानता है

एक राजा ने अपनी दो रानियो को गन्ने दिए और कहा—गन्ने चूसने

के लिए नही है, रस पीने के लिए नही है किन्तु इन गन्नो से आज स्वय तुम्हे रसोई पकाना है।

बडा कडा आदेश था रानी के लिए। गर्मी का मौसम। स्वय रसोई बनाना है और लकडियो से नही बनाना है, गन्नो से बनाना है। बडी समस्या पैदा हो गई। आखिर क्या करे, राजा का आदेश मानना ही पडा। जो बडी रानी थी, वह कम समझ वाली थी। उसने गन्ने मगा लिए, चूल्हा जलाया, चूल्हे मे गन्ने डाले। भयकर धुआ ही धुआ हो गया। वह बैठ नहीं सकी। बहुत देर तक धुआ छाया रहा। वह रसोई नही बना सकी, सारी रसोई धुए से भर गई। छोटी रानी समझदार थी, चिन्तनशील थी, विचारशील थी। उसने बच्चो को बुला कर कहा—लो, गन्नो को चूसो। बालको ने गन्ने चूस लिए। जो छिलके बचे उनसे चूल्हा जलाकर छोटी रानी ने रसोई बना ली। अत्यन्त सहजता से रसोई बन गई। धुआ रसोई मे बाधक नही बन सका।

जो दूसरो को रस बांटना जानता है उसकी रसोई पक जाती है। जो रस बाटना नही जानता उसकी रसोई धुए से भर जाती है। जो व्यक्ति स्वार्थी होता है, सब कुछ अपने लिए करता है। अपना हित, अपना स्वार्थ, अपना कल्याण, अपना बडप्पन सब कुछ अपना ही अपना देखता है, जिसे दूसरे से कोई मतलब नही होता, वह सघबद्ध साधना नही कर सकता।

जहा स्वार्थ की भावना होती है, सापेक्षता की भावना नही होती वहा साधना की ही नही किन्तु सामाजिकता की भावना भी नही आती। सामाजिकता का सामान्य सूत्र है सापेक्षता। साधना के लिए इससे भी अधिक उदात्त चिन्तन चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति सोचे, दूसरो के प्रति मैं क्या कर रहा हू। जो केवल अपने लिए जीता है, सविभाग करना नही जानता, वह साधना का अधिकार नही पा सकता।

व्यवहार का बोध

सघबद्ध साधना का छठा सूत्र है—व्यवहार का बोध। जो व्यवहार मे सामजस्य बिठाना जानता है, वह सघबद्ध साधना कर सकता है। हमारे सामने दो नय हैं—निश्चय नय और व्यवहार नय। साधना का सबसे बडा सूत्र है निश्चय नय, किन्तु सघबद्ध साधना का सूत्र है—निश्चय और व्यवहार का सामजस्य। जिसमे व्यवहार का बोध नही है, जो व्यवहार मे सामजस्य बिठाना नही जानता वह सघबद्ध साधना का जीवन नही जी सकता। जहा अनेक आदमी साथ मे रहते हैं वहा व्यवहार की समस्या का आना बहुत स्वाभाविक है। यह सभव नही है—व्यवहार मे समस्या न आए। व्यक्ति मे कषाय विद्यमान है, हीनभावना विद्यमान है, अहकार की भावना विद्यमान है

क्रोध, लोभ आदि सारे भाव विद्यमान हैं। इस स्थिति मे असामजस्य न हो, विग्रह न हो यह कभी सभव नही है। इनका होना संभव है पर इनमे जो सामजस्य बिठाना जानता है वह सघबद्ध साधना को सफल बनाना सीख लेता है। जो अनुत्पन्न कलह की उदीरणा नही करता और उत्पन्न कलह का उपशमन कर देता है, जो परिस्थिति से समझौता करना सीख लेता है, वह सघीय जीवन मे कभी असफल नही होता। सामजस्य सघबद्ध साधना का प्रमुख तत्त्व है।

कषायजनित भावो का संतुलन

सघबद्ध साधना का सातवा सूत्र है—कषायजनित भावो का सतुलन। जो कषायजनित भावो का, कषायजन्य भावो का संतुलन करना जानता है, सहन करना जानता है, उसके लिए सघबद्ध साधना सभव है। क्रोध और क्रोध से होनेवाली प्रवृत्तिया, अहकार और अहकार से होने वाली प्रवृत्तिया, कपट और कपटपूर्ण प्रवृत्तिया, लोभ और लोभपूर्ण प्रवृत्तिया, भय और भय की प्रवृत्तिया मनुष्य मे विद्यमान हैं। इनका सतुलन सघबद्ध साधना का आधार है। यह नही कहा जा सकता, सब वीतराग बन जाए। ऐसा होना सभव भी नही। यद्यपि साधना वीतरागोन्मुखी है किन्तु एक ही चरण मे वीतराग बनना सभव नही है। जो व्यक्ति इनमे सतुलन करना जानता है और इन भावों को निष्क्रिय बनाना जानता है, उसके लिए सघबद्ध साधना सभव है।

रूपक की भाषा

एक कन्या जा रही थी, उससे पूछा गया—तुम किसकी लडकी हो! वह पहेली की भाषा मे बोली—

> **विहिता निर्विषाः नागा, गजाः शक्तिविवर्जिताः।**
> **बलमुक्ताः भटाः येन, तस्याऽहं कुलबालिका॥**

मैं उस कुल की बालिका हू, जिसने फुफकारते हुए सापो को निर्विष बना दिया, उनका सारा जहर समाप्त कर दिया। जिसने मदोन्मत्त हाथियो को भी शक्तिहीन बना दिया, जिसने योद्धाओ—पराक्रमी और शूरवीर व्यक्तियो को भी बलहीन बना दिया।

कुशल चित्रकार ही ऐसा कर सकता है। वह जीवन्त सापो को चित्रित करेगा। किन्तु उनमे कही जहर का नाम ही नही होगा। ऐसे बडे-बडे हाथी बनाएगा पर उनमे मद नही होगा। उद्भट योद्धाओ को चित्रित करेगा किन्तु वे बलहीन होगे।

जो व्यक्ति कषाय के जहर को, कषाय के नाग को निर्विष कर देता है, जहरहीन बना देता है, जो अहकार के मद से उन्मत्त हाथी को निर्मद बना देता है और जो झूठे पराक्रम को, दूसरो को सताने वाले पराक्रम को निर्वीर्य

बना देता है, वह भावो मे सतुलन स्थापित कर लेता है। जो व्यक्ति निषेधात्मक भावो को निर्वीर्य या प्रभावहीन बना देते हैं, वे सघबद्ध साधना का रहस्य पा लेते हैं।

सहिष्णुता

सघबद्ध साधना का एक सूत्र है सहिष्णुता। जहा दो होते है वहा सहन करने की बात सबसे पहले आएगी। सघीय जीवन मे एक दूसरे को सहन करना आवश्यक है—छोटा बडे को सहन करे और बडा छोटे को सहन करे। अगर दोनों मे से एक भी सहन नही करेगा तो सघबद्ध साधना कभी सभव नही बन पाएगी।

एक कुलवधू ने कहा—मै अपनी सास-ससुर, जेठ-जेठानी आदि को सहन करती हू, जिससे मेरे कुल की मर्यादा टूटे नही। मैं अपने से छोटे देवर-देवरानी को भी सहन करती हू, जिससे कुल मे विग्रह पैदा न हो और मैं अपने नौकर व नौकरानी को भी सहन करती हू, जिससे कुल की व्यवस्था ठीक चले, कार्य मे कोई बाधा न आए। नौकर काम बद कर दे तो व्यक्ति क्या करेगा? आज यही हो रहा है। मालिक सहन करना नही जानता इसीलिए चलते-चलते मिल मे हडताल हो जानी है, कार्यालय मे हडताल हो जाती है, राज्य कर्मचारी बिगड जाते है। वे एक दूसरे को सहन करना नही जानते।

सहने की परम्परा

सघबद्ध साधना एक दूसरे को सहन करने पर निर्भर है। सहन करने का यह अर्थ नही है कि व्यक्ति गलत बात को सहन करे। गलत बात का प्रतिकार करना बहुत जरूरी है। पर उसके अतिरिक्त भी बहुत सारी वाछित-अवाछित स्थितिया बनती हैं। सदेह भय, राग-द्वेष आदि के कारण अनेक प्रकार की स्थितिया बन जाती हैं। उन सारी स्थितियो को सहन करना तेरापन्थ की परम्परा रही है।

एक बार डालगणी ने मत्री मुनि को काफी कडा उलाहना दिया। मत्री मुनि सहन करना जानते थे। उन्होने डालगणी के उलाहने को सह लिया। कुछ समय बीता। सारी स्थिति साफ हुई। डालगणी ने स्वय कहा - 'मेरा चिन्तन ठीक नही रहा।' शिष्य गुरु को सहन करता है और गुरु शिष्य को सहन करता है तब सघबद्ध साधना सभव बनती है।

सघ है व्यक्ति के भीतर भी

अहकार-विलय, आत्म-निरीक्षण, अपूर्णता का बोध, परस्परता, सविभाग, सामजस्य, सतुलन और सहिष्णुता—ये होते हैं तो सघबद्ध साधना सभव है। अगर ये नही हैं तो सघबद्ध साधना सभव नही है। इनके बिना सघबद्ध ही नही, अकेले मे भी साधना सभव नही है। व्यक्ति के भीतर मे

सघ बना बैठा है। व्यक्ति मे भावो का उतार-चढाव आता है। एक बीमारी है—अकारण भय उतरने की बीमारी। सारी दुनिया मे यह बीमारी भयकर रूप से चल रही है। कोई कारण सामने नही है फिर भी व्यक्ति डरने लग जाता है। उसे लगता है—जैसे प्राण चले जा रहे हैं, जीवन चला जा रहा है, हाथ-पैर ठण्डे होते जा रहे हैं। जो सघबद्ध नही है, अकेला बैठा है, वह भी इन सबसे प्रभावित होता है। हजारो-हजारो भावो से घिरा हुआ आदमी अगर भावो को सतुलित नही बनाए और अकेला गुफा मे जाकर बैठ जाए तो साधना सभव नही है।

विशिष्ट दृष्टिकोण

साधना के बारे मे जैन तीर्थंकरो का एक विशिष्ट दृष्टिकोण रहा है—यदि कषायो और भावो का सतुलन स्थापित है तो हजारो लोगो के बीच मे रहकर भी साधना सभव है। अगर सतुलन नही है तो अकेले मे भी साधना सभव नही है। न जाने कितने तूफान अकेले मे आते हैं ? कभी-कभी अकेले मे निषेधात्मक भाव ज्यादा पनपते है। मै मानता हू—सघ एक प्रकार से भावो को सतुलित, अनुशासित और सीमित करने का प्रयोग है। अकेला व्यक्ति चाहे जैसा भाव कर सकता है। सघ मे सबको अपनी-अपनी सीमा समझनी पडती है। अकेला व्यक्ति जगल मे कही भी रह सकता है पर किसी को शहर मे रहना है, शहर मे बसना है तो उसे सीमा का बोध करना होगा। दिल्ली के राजपथ के बीच मे बैठकर कोई ध्यान नही कर सकता, स्वाध्याय नही कर सकता। प्रत्येक व्यक्ति जानता है—यह राजपथ है। यहा हजारो वाहन, हजारो लोग आते-जाते है। इस पर मेरे अकेले का अधिकार नही है। इस दुनिया पर किसी अकेले व्यक्ति का अधिकार नही, सबकी अपनी-अपनी सीमाए है। यह सीमा का बोध होना, स्वार्थ का सीमाकरण होना, साधना का सबसे बडा सूत्र है और इसका विकास सघबद्धता मे ही सभव है।

संघीय परम्परा और परिवर्तन

शाश्वत : अशाश्वत

यदि धर्म शाश्वत है तो कुछ भी नही बदला जा सकता। अगर धर्म अशाश्वत है तो फिर वह सत्य नही हो सकता। सत्य का एक अर्थ है—देशातीत और कालातीत होना। अशाश्वत धर्म नही हो सकता। देश और काल के अनुसार उसका स्वरूप बदलता रहता है। पर्याय को भी हम सत्य मानते हैं, पर वह होगा सामयिक सत्य। सत्य दो भागो मे विभक्त हो जाता है—एक है शाश्वत सत्य और दूसरा है सामयिक सत्य। धर्म शाश्वत सत्य है। भगवान् महावीर ने कहा—'सव्वे पाणा ण हतव्वा, एस धम्मे धुवे णियए सासए।' अहिंसा शाश्वत धर्म है, ध्रुव है, नित्य है। इसका अर्थ हुआ, धर्म शाश्वत है तो वह अपरिवर्तनीय है। हम देखते है कि बहुत सारी धर्म की बाते बदल जाती है। एक विरोधाभास हमारे सामने आता है। इसका समन्वय हम कैसे करें। इसका समाधान कैसे पाए?

उपादान और निमित्त

इस प्रश्न के परिप्रेक्ष्य मे हमे धर्म की मीमासा करनी होगी। धर्म के दो तत्त्व हैं—उपादान और निमित्त। उपादान है—मूल तत्त्व और निमित्त है—सहायक सामग्री। क्या धर्म का उपादान अहिंसा है? ब्रह्मचर्य है? अपरिग्रह है? नही, ये सब धर्म के उपादान नही है, निमित्त साधन है। धर्म का उपादान है वीतरागता। जो आत्मा का मूल स्वरूप है, वही धर्म का उपादान है। शुद्ध चेतना धर्म का उपादान है। हिंसा, असयम, परिग्रह आदि शुद्ध चेतना मे बाधा डालने वाले निमित्त है, इसलिए धर्म की कोटी मे इनका वर्जन किया गया। यह है बाधक हेतुओ का वर्जन। धर्म मे बाधक हेतुओ का वर्जन किया गया और साधक हेतुओ का स्वीकरण।

धर्म : परिवर्तनीय भी, अपरिवर्तनीय भी

दूसरा तत्त्व है—व्यवस्था और नियम। धर्म के आधार पर सगठन बना है, नियम बने हैं, व्यवस्थाए निर्मित हुई है। परिवर्तन किसमे होता है? धर्म के उपादान स्वरूप मे कभी भी परिवर्तन नही हो सकता। अगर कोई परिवर्तन करेगा तो धर्म रहेगा ही नही। परिवर्तन की सभावना है धर्म के हेतुओ मे, नियमो और व्यवस्थाओ मे। इस आधार पर हम कह सकते हैं, धर्म शाश्वत भी है और अशाश्वत भी है। धर्म अपरिवर्तनीय भी है और परिवर्तनीय

भी है। यदि हम विभज्यवादी शैली का प्रयोग न करे तो यह प्रश्न उलझा हुआ रहेगा। उपादान की दृष्टि से, मौलिकता की दृष्टि से धर्म अपरिवर्तनीय है और व्यवस्था, नियम तथा सघीयदृष्टि से धर्म परिवर्तनीय है।

उपादान है शुद्ध चेतना

धर्म का उपादान क्या है ? दुनिया के जितने धर्म हैं, उन सबमे शुद्ध चेतना को स्वीकारा गया है। चाहे आत्मा के रूप मे, चाहे ईश्वर के रूप में। अशुद्ध चेतना को किसी ने धर्म का मूल आधार नही माना। जैन दर्शन परमात्मा को धर्म का मूल आधार मानता है। परमात्मा का मतलब है शुद्ध चेतना, शुद्ध आत्मा। जो ईश्वर कर्तृत्ववादी दर्शन हैं, वे भी ईश्वर को शुद्ध आत्मा मानते हैं। दोनो का फलित यही है कि धर्म का मूल आधार है शुद्ध आत्मा। जिस शुद्ध आत्मा तक पहुचने के लिए या बनने के लिए जिन साधनों का, हेतुओ का हम उपयोग करते है, वे कभी शाश्वत नही होते। उनमे देश-काल के अनुसार परिवर्तन होता रहता है।

परिवर्तनीय हैं नियम

नियम बना दिया गया--एक मुनि तीन चद्दर से ज्यादा न रखे। यह एक व्यवस्था है, नियम है। हो सकता है, कभी ऐसा अवसर आ जाए कि तीन चद्दर पर्याप्त न हो। कल्पना करे, हिमालय के पहाडो मे रहना पडे तो क्या इस तीन चद्दर के नियम को नही बदला जा सकता ?

भगवान् महावीर ने अधिकतर बिहार-बगाल मे विहार किया। उस क्षेत्र मे बार-बार नदी उतरने का प्रसग आया। नियम बन गया—साधु नदी को पार कर सकता है। अगर महावीर राजस्थान मे रहते तो सभवत कभी यह नियम नही बनता। क्या हम यह मान ले, नदी को पार करने का नियम शाश्वत है। ऐसा नही है। दक्षिण के किसी मदिर के पुजारी से पूछा गया—आपके यहा मदिर मे खुले बदन जाने की परम्परा क्यो है ? उत्तर मिला—यहा गर्मी बहुत है इसलिए ऐसा विधान किया गया है। यदि हम लोग हिमालय मे होते तो सभवत मदिर मे कपडे-जूते पहनकर जाने का विधान कर दिया जाता।

सहज नियम . कृत नियम

धर्म के जो कृत नियम है, वे परम्परागत है, आगे से आगे चलते चले जाते है। हम दो शब्दो पर ध्यान दे - सहज और कृत। जो सहज होता है, वह कभी नही बदला जा सकता। वह त्रैकालिक होता है। जो मनुष्य-कृत होता है, उसमे परिवर्तन की सदा सभावना बनी रहती है। इस आधार पर धर्म के नानात्व का प्रश्न भी सुलझता है।

धर्म कभी अलग नही हो सकता। जैन का अलग धर्म है, वैष्णव का

धर्म अलग है, मुसलमान का धर्म अलग है। यह कभी हो नही सकता। धर्म अगर सत्य होगा तो एक होगा। अगर धर्म सत्य नही होगा तो वह अनेक हो सकता है।

हमे मानना चाहिए—जो सहज धर्म है, वह सबके लिए वीतरागता है, आत्मा की शुद्ध चेतना है। शेष सब धर्म की परम्पराए हैं। अपनी-अपनी उपासना और पूजापाठ या कर्मकाण्ड की पद्धतिया हैं।

वर्जन : संभावनाओं को

जिस परम्परा को लगा कि सभावना का वर्जन करना चाहिए, उसमे यह विधान कर दिया गया—स्त्री और पुरुष, साधु और साध्वी रात को एक मकान मे न रहें। क्या एक मकान मे रहना कोई दोष है ? किंतु एक सभावना के आधार पर यह नियम बना दिया गया। जिसने जिस सभावना का वर्जन किया, उसका दृष्टिकोण रहा—धर्म के मार्ग मे यह बाधा आ सकती है और उसे प्रतिबधित करने वाला नियम बना दिया गया। जिन्हे ऐसी सभावना नही लगी, उन्होने नियम नही बनाया। अपनी-अपनी परम्पराए सभावनाओ के आधार पर बनाई गई हैं।

परम्परा से जुड़ा साधुत्व

जैनो मे एक परम्परा है। इस परम्परा मे चलने वाले मानते हैं—कच्छ मे रहने से साधुपन पलता है, कच्छ से बाहर जाने पर साधुपन नही पलता। यह उनकी अपनी सभावना है, परम्परा है। प्राचीनकाल मे विधान किया गया—भारत के पच्चीस देश आर्यदेश है। इनमे विहार करना ठीक है। इनसे बाहर विहार करना वर्जित कर दिया गया। इसे क्या हम शाश्वत मानें ?

कई लोग भगवान की मूर्ति बनाते हैं, दीपक जलाते हैं, आरती करते है और भगवान को गहने भी पहनाते है। कुछ लोगो ने यह मान लिया ऐसा करने से हमारी भावना शुद्ध होती है। यह सभावना की ही बात है। विभिन्न सभावनाओ के आधार पर अपने-अपने नियम और परम्पराए बनी।

धर्म एक · परम्परा अनेक

निष्कर्ष यह है—धर्म सबका एक है और परम्पराए अनेक। उपादान एक है पर हेतु और निमित्त अनेक हैं, अपने अपने है। जिसको जैसा लगा, उसने वैसे नियम बना लिए। भगवान पार्श्वनाथ ने अपने ढग से व्यवस्था और नियम बनाए। महावीर को लगा—ये नियम वर्तमान पीढी के लिए उपयुक्त नही है, उन्होने वे नियम बदल दिए। लेकिन हम इस सचाई को याद रखें—पार्श्वनाथ और महावीर का लक्ष्य नही बदला। वही परमात्मा और शुद्ध

चेतना की प्राप्ति का लक्ष्य बना रहा। उपादान में कोई अन्तर नहीं आया। अन्तर आया हेतुओ मे, बाहरी साधनों मे।

परम्परा भेद : निदर्शन

एक उदाहरण ले। यदि कोई जैन मुनि पर्युषण नही मानता है, सवत्सरी का उपवास नही करता है तो वह प्रायश्चित्त का भागी होता है। उसे प्रायश्चित्त करना ही पडता है। पार्श्वनाथ के शिष्यो मे यह अनिवार्य नही था। ऐच्छिक था—करना हो तो करो, न करना हो तो मत करो। आज दोनो समय प्रतिक्रमण करना अनिवार्य है। पार्श्वनाथ के समय मे यह अनिवार्य नही था। आज जिन बातो को मूल आचार या मूल गुण माना जा रहा है, उस समय उनकी अनिवार्यता नही थी।

धर्म : केन्द्र और परिधि

हम इस भाषा मे सोचे, राग द्वेष को, कषाय या मोह को कम करना, यह धर्म का केन्द्रीय तत्त्व है और शेष सारी बाते परिधिगत तत्त्व हैं। परिधिगत तत्त्व भी आवश्यक होते हैं। उनके बिना केन्द्रीय तत्त्वो की सुरक्षा नही होती। परिधिगत तत्त्व परिवर्तनशील होते हैं। उन्हे बदला भी जा सकता है किंतु हमे बदलने की प्रक्रिया पर विचार करना होगा। उन्हे कब और कौन बदल सकता है? धर्म का कोई भी नियम और सामाचारी है, उसे हर कोई नही बदल सकता। उसकी एक पूरी प्रक्रिया है। उसे समझना बहुत आवश्यक है। आचार्य भिक्षु ने इस प्रक्रिया के विषय को बहुत स्पष्ट किया है।

परिवर्तन की प्रक्रिया : आधार

परिवर्तन की प्रक्रिया का मूल आधार होता है आचार्य। केन्द्र मे आचार्य है, जिसे परिवर्तन का अधिकार दिया गया है। इसका कारण रहा—जिस व्यक्ति मे अपनी परम्परा के प्रति श्रद्धा का भाव नही होता, वह परिवर्तन का अधिकारी नही हो सकता। आचार्य का पहला लक्षण है—श्रद्धाशील होना। श्रद्धाशील को ही अपनी परम्परा को बदलने का अधिकार है, अश्रद्धाशील को नही। दूसरा कारण है—आचार्य सत्यनिष्ठ होना है इसलिए वह परिवर्तन कर सकता है। उसकी सत्य मे निष्ठा और विश्वास होता है। आचार्य बहुश्रुत होता है। परिवर्तन का अधिकार उसे है, जो बहुश्रुत है. जिसका श्रुत अल्प है, उसे परिवर्तन का अधिकार नही है।

महत्त्वपूर्ण विषय

यह बहुत महत्त्वपूर्ण विषय है—आचार्य भिक्षु ने परिवर्तन के क्या-क्या सूत्र दिए? आचार्य भिक्षु ने बदलने के जो-जो सूत्र दिए, उन्हें जानना बहुत आवश्यक है। तेरापथ धर्म सघ मे समय-समय पर अनेक नए परिवर्तन

आए हैं। अनेक पुराने मे बदलाव आया है। जो नियम आचार्य भिक्षु के समय मे थे, उनमे से अनेक नियम आज कृतार्थ हो चुके हैं। जो नियम आज हैं, आचार्य भिक्षु के समय मे उनका अस्तित्व ही नही था। तेरापथ धर्म-सघ का दो सौ वर्षों का इतिहास परिवर्तन की परम्परा का जीवन्त साक्ष्य है। लेकिन उस परिवर्तन की परम्परा मे एक लक्ष्य स्पष्ट बना रहा और वह है वीतरागता की साधना। चर्यागत परिवर्तन भी हुए हैं और व्यवस्थागत परिवर्तन भी हुए हैं लेकिन साधना का लक्ष्य और मौलिक मर्यादाए अपरिवर्तनीय बनी रही। तेरापथ धर्म सघ की तेजस्विता और पवित्रता का रहस्यसूत्र यही है।

मूल्य किसका ?

आचार्य भिक्षु ने बहुत सारी बातें कही। इतनी बातें कहीं कि बेचारे शब्द खो गए और आचार्य भिक्षु हमारे लिए अगम्य बन गए।

तुमने जो भी कहना चाहा
कहा, किंतु वे शब्द खो गए।
झेल सके ना अर्थ भार को।
इसीलिए वे अगम हो गए।

आचार्य भिक्षु के शब्द तो हमारे लिए आज भी अगम्य बने हुए हैं। उन्हे गम्य करना बहुत मुश्किल है।

मूल्य : गुरु का या शिष्य का

मेरे मन मे एक प्रश्न पैदा हुआ कि आचार्य भिक्षु ने जो सघ की व्यवस्था दी, उसमे गुरु का मूल्य ज्यादा है या चेलो—शिष्य का मूल्य ज्यादा? हम सब यही कहते हैं कि मूल्य गुरु का ज्यादा होता है। कलकत्ता मे चतुर्मास था। साहू शातिप्रसाद जैन ने किसी प्रसग मे कहा—आचार्यश्री! आप जैन सघ को मिले है, यह हमारा सौभाग्य है और आपको मुनि नथमलजी जैसे शिष्य मिले हैं, यह आपका सौभाग्य है। यह सुनकर मुझे अटपटा लगा। किंतु जब मेरे सामने यह प्रश्न आया—मूल्य किसका ज्यादा? तब मैंने इस प्रश्न की गहराई मे पहुचने का प्रयत्न किया। इस सदर्भ मे जयाचार्य की दो पक्तिया मिल गईं। मुझे लगा—केवल गुरु का ही मूल्य नही होता। गुरु और शिष्य—दोनो का समान मूल्य है।

मूल्य है दोनों का

जयाचार्य ने आचार्य भिक्षु की स्मृति मे लिखा—आचार्य भिक्षु बडे सौभाग्यशाली थे, जिन्हे खेतसीजी जैसे शिष्य मिले। दूसरी ओर उन्होने खेतसीजी के सदर्भ मे लिखा—खेतसी स्वामी बडे पुण्यवान् हैं, जिन्हे भिक्षु स्वामी जैसे गुरु मिले। इन दोनो पक्तियो ने मेरे प्रश्न का उत्तर दे दिया—

जशकीरत जग में घणी लोक करै गुणग्राम।
शिष्य मिल्या सतजुगी सारिसा भाग बलि भिक्खु स्वाम॥
प्रबल पुण्य गुण पोरसा खेतसीजी बड़भाग।
गुरु मिल्या भिक्खु सारिसा, फैल्यो जस सोभाग॥

जोड़ी तो जुगती मिली गुरु चेलां महिमंड ।
जग माहे पिण इम कहै, खीर मांहे जिम खंड ॥

नया आयाम

भिक्षु स्वामी ने गुरु शिष्य की परम्परा को एक नया आयाम दिया। जयाचार्य ने लिखा है—जब खेतसीजी स्वामी दीक्षित हो गए तब आचार्य भिक्षु चित्त-समाधि को उपलब्ध हुए। चित्त-समाधि किससे मिली ? शिष्य से मिली। आचार्य भिक्षु ने कहा—मैने इन तीन साधुओ के सहयोग से साधुपन को सुखे-सुखे पाला। आचार्य भिक्षु इतने सवेदनशील, इतने जागरूक और विनम्र थे। आचार्य भिक्षु की तुलना महात्मा गाधी के साथ की जाती है। यदि आचार्य भिक्षु का जीवन पढे तो ऐसा लगेगा कि कुछ सदर्भो मे आचार्य भिक्षु महात्मा गाधी से भी बहुत विशिष्ट थे।

योग्य व्यक्तियो का चयन

खेतसीजी स्वामी अचानक पाली मे बीमार हो गए, मार्ग मे ही अचेत हो गए। तत्काल आचार्य भिक्षु पधारे और उन्हे वहा से उठाकर लाए। योग्य शिष्य आचार्य भिक्षु के लिए कितने महत्त्वपूर्ण थे। यह इस घटना से समझा जा सकता है। योग्य शिष्यो को दीक्षा देने के लिए, उन्हे पाने के लिए आचार्य भिक्षु ने पूरी शक्ति भी लगाई। जैन परम्परा मे आचार्य इस विषय मे सदा जागरूक रहते है। सघ तभी अच्छा चलता है जब योग्य व्यक्ति मिलते हैं। इसीलिए आचार्य भिक्षु ने कहा--**जिण तिण ने मत मूडज्यो, दीक्षा दीज्यो देख देख।** मुनि हेमराजजी की दीक्षा के लिए आचार्य भिक्षु ने पूरी शक्ति लगा दी। जैन परम्परा को सुरक्षित रखना है, जैन विद्या—तत्त्वज्ञान को अक्षुण्ण रखना है तो योग्य व्यक्तियो का चयन करना जरूरी है, उन्हे सरक्षण और विकास का अवसर देना जरूरी है।

योग्यता का वातावरण

मैने एक बार आचार्यवर से आमेट मे प्रार्थना की थी—कुछ बालक ऐसे लगे, जो बहुत योग्य हैं, वैराग्यवान्, बुद्धिमान और होनहार है, तो उन्हे मागकर भी ले लेना चाहिए। हमे यह कहना चाहिए - सेठजी ! तुम्हारे चार लडके है। एक हमे दे दो। प्राचीन काल मे ऐसी परम्परा रही है। शिष्य मागकर भी लिए गए है। आज हमारे श्रावक-श्राविकाए बडे समझदार है और दान देने मे बडे उदार हैं पर ऐसा दान देने मे शिष्यो का दान देने मे उदारता बढे, यह अपेक्षित है। उन्हे यह जानना चाहिए कि इतना बडा घर है कि उसमे योग्य व्यक्ति आए तो उसका रूप कैसा हो जाए। आचार्य भिक्षु ने योग्य व्यक्तियो के चयन के लिए तीव्र प्रयत्न किए और अपने आस-पास योग्य व्यक्तियो का सशक्त मण्डल बना लिया। मुनिश्री भारमलजी, मुनिश्री

हेमराजजी, वेणीरामजी आदि-आदि मेधावी, विनीत और समर्पित शिष्य आचार्य भिक्षु को मिले और उनके भरोसे आचार्य भिक्षु निश्चित हो गए।

परम्परा की चिंता

जयाचार्य ने लिखा है—

> **भारीमाल सूं भिक्खू कहे, हिवे थे हुवा नचींत।**
> **आगे थारैं म्हें हुंता, अबै हेम अग जीत॥**
> **जे कोई पाखण्डी थकी, पड़ै चरचा रो काम।**
> **तो छे थारैं हेमजी, इम कहै भिक्खु साम॥**

भारीमाल! तू बडा भाग्यवान् है। इतने दिन तो हम तुम्हारे साथ मे काम करने वाले थे और अब मुनि हेमराज हो गया। परम्परा को निश्चित बनाना और परम्परा की चिन्ता करना आचार्य का एक प्रमुख काम होता है। उनका दायित्व होता है—योग्य शिष्यो को जुटाना, उनका सग्रह करना।

परम्परा का प्राणतत्त्व

आज आचार्य तुलसी जैसे महान् आचार्य का नेतृत्व मिला, इस अर्थ मे तेरापथ धर्मसघ महान् सौभाग्यशाली है। साथ-साथ यह भी उतना ही सत्य है कि आचार्यश्री बहुत सौभाग्यशाली हैं, जिन्हे इतने समर्थ शिष्यो का सघ मिला। यह सारी देन आचार्य भिक्षु की है, जिन्होने ऐसी परम्पराए डाल दी, जिसका प्राणतत्त्व रहा—योग्य शिष्यो का चयन करना और उन्हे अधिक योग्य बनाना।

हमारी परम्परा मे शिष्यो को गुरु ने बहुत मूल्य दिया है, बहुत आगे बढाया है और एक प्रकार से अपने समान ही बना दिया। दूसरी ओर हमारे आचार्यों ने अयोग्य शिष्यो की अवहेलना भी काफी की है। हम विनीत-अविनीत की चौपई पढे। आचार्य भिक्षु ने अयोग्य शिष्यो को जितना कोसा है, उतना कोसने वाला दूसरा शायद नही मिलेगा। योग्यता की जो कसौटी है, उसके आधार पर कहा जा सकता है—तेरापथ धर्मसघ आज योग्यताओ से युक्त व्यक्तियो का सघ है।

पर्यावरण योग्यता का

आचार्य भिक्षु का सारा जीवन योग्यताओ की कसौटियो का जीवन है। उन्होने स्वय योग्यताओ का जीवन जीया और अपने आसपास योग्यताओ का ऐसा पर्यावरण पैदा कर दिया, जिसमे सिर्फ योग्य ही ठहर सकता था, अयोग्य कोई बचता ही नही। आज आचार्यवर उसी परम्परा को मूल्य दे रहे हैं। सघ मे जितनी-जितनी योग्यता और क्षमता बढेगी उतना ही हमारा सघ यशस्वी और तेजस्वी बनेगा। इस युग ने जो अपेक्षाए पैदा की हैं,

उन्हें देखते हुए योग्य व्यक्तियो की अपेक्षा ज्यादा बढ गई है ।

कारीगरों की जरूरत है

आचार्य भिक्षु से मुनियो ने कहा—महाराज ! क्षेत्र बहुत हैं, आप उन स्थानो मे भी काम करें । आचार्य ने दृष्टात की भाषा मे कहा—वन तो बहुत हैं, कारीगरो की जरूरत है । मकराने का पत्थर तो बहुत अच्छा है, मूर्तिया बनायी जा सकती हैं पर कारीगर कम है । वर्तमान मे भी यही स्थिति है । आज आचार्यश्री ने काम इतना बढा दिया कि कारीगर कम पड रहे हैं । आचार्यश्री को आज हजारो-हजारो कारीगरो की जरूरत है । अनेक व्यक्ति आचार्यवर की बात मानकर साठ वर्ष की अवस्था मे काम-धधे से मुक्त होकर कारीगर बनकर शासन की सेवा मे लग गए । आज श्रावक समाज को कारीगर बनने का सकल्प लेना है, कारीगर बनना है । साठ वर्ष घर के लिए दें तो शेष बचा समय सघ को दे । यह सकल्प तेरापथ की परम्परा को प्राणवान् बनाने वाला और आचार्य भिक्षु के सपनो को साकार करने वाला बनेगा ।

मूल्य है वीतरागता का

आचार्य भिक्षु वीतरागी सत थे। उन्होंने राग को समझाने के लिए सारा जीवन लगा दिया, सारी शक्ति लगा दी। जैन परम्परा मे आचार्य कुन्दकुन्द ने राग पर बहुत प्रकाश डाला। कुन्दकुन्द ने कहा--मूल समस्या है राग। द्वेष कोई समस्या नही है। इसी सूत्र को आचार्य भिक्षु ने पकडा—मूल समस्या है राग या प्रियता। अप्रियता और द्वेष कोई समस्या नही है। वे राग के उपजीवी है। राग है तभी द्वेष है। अगर राग नही है तो द्वेष आएगा ही कहा से ? जब आचार्य भिक्षु ने इस सिद्धान्त को समझाना शुरू किया तो उनके सामने बहुत सारे प्रश्न आए।

राग और द्वेष

आचार्य भिक्षु ने उदाहरण की भाषा मे कहा—एक बच्चा है, उधम कर रहा है। एक आदमी आया, उसने बच्चे को समझाया पर बच्चा नही माना। आदमी ने हल्का सा चाटा जड दिया। वही खडे एक आदमी ने कहा—बच्चे को क्यो पीटता है ? वहा सचमुच उधम हो गया। एक आदमी उधर से गुजरा। उसके साथ मे लड्डू की थाली थी। उसने एक लड्डू बच्चे को थमाया। बच्चा तत्काल राजी हो गया। दृष्टात का उपसहार करते हुए आचार्य भिक्षु ने कहा—जिसने चाटा जडा, उसे लोग कहेगे—बडा खराब आदमी है। जिसने लड्डू दिया, वह बहुत अच्छा आदमी है।

आखिर है क्या ? एक है राग और दूसरा है द्वेष। दोनो ही बधन करने वाले है। पर दुनिया राग को हमेशा अच्छा बतलाती है, द्वेष को बुरा बतलाती है। सारा ससार राग पर चल रहा है। एक मा बच्चे को पालती है, लालन-पालन करती है। यदि राग न हो तो वह एक दिन मे ही थक जाएगी। सब कुछ रागात्मकता के कारण चल रहा है, किन्तु राग के साथ थोडा-थोडा अभ्यास वीतरागता का भी होना जरूरी है। वीतरागता न हो तो राग भारी समस्या पैदा कर देता है।

निष्कर्ष की भाषा

आचार्य भिक्षु ने वीतरागता का सिद्धान्त दिया और वह महावीर की वाणी के आधार पर दिया। वे महावीर की वाणी के भक्त थे। उनमे महावीर के प्रति इतनी श्रद्धा थी, जितनी मीरा की गिरधर गोपाल के प्रति थी, सूरदास की कृष्ण के प्रति थी, तुलसीदास की राम के प्रति थी। भिक्षु के सामने

जिनवाणी के सिवाय दूसरा कोई प्रश्न ही नही था। और महावीर की वाणी को कही पर देखो, उसका एक ही निष्कर्ष आएगा—वीतरागता। आचार्य भिक्षु ने वीतरागता के सिद्धान्त का प्रतिपादन ही नही किया किन्तु उसे जीया। ऐसे विरल व्यक्ति मिलते हैं, जो वीतरागता को जीते हैं।

कितने उपकारी हैं

पाली की घटना है। आचार्य भिक्षु एक दुकान मे ठहरे। उसकी मालिक एक महिला थी। एक भाई ने उस बहिन से कह दिया—तुमने दुकान तो दे दी पर वे खाली नही करेंगे। बहिन ने आचार्य भिक्षु से कहा—महाराज! आप दुकान खाली करें। आचार्य भिक्षु बोले—तुम जब चाहोगी, दुकान खाली कर देंगे। बहन ने कहा—नही, आप खाली कर दे। आचार्य भिक्षु ने स्थान बदल दिया। चौमासा आया, वर्षा हुई और सयोग ऐसा हुआ कि जिस दुकान मे वे पहले ठहरे थे, वही दुकान ढह गई। बात आचार्य भिक्षु तक पहुची। आचार्य भिक्षु बोले—देखो! कितने उपकारी हैं! हमारा कितना हित चाहते है। अगर हम उस दुकान मे रहते तो हमारा क्या हाल बनता। पर हमारा हाल ऐसा क्यो होता? हमारे शुभचिंतक बैठे है। अलग हो गए तो क्या हुआ? हमारी चिन्ता तो कर ही रहे है।

ऐसा चिंतन एक वीतराग व्यक्ति ही कर सकता है। आचार्य भिक्षु ने सचमुच वीतरागता का जीवन जीया। जो तेरापथ मे आस्था और विश्वास रखने वाले हैं, उन्हे इस बात की सदा स्मृति रखना है कि जैन धर्म और तेरापन्थ से जो सीखना है, उसका एक ही सूत्र है, वह है वीतरागता। यह एक सूत्र सीख लिया तो सारा दर्शन और सिद्धान्त सीख लिया, सारी साधना को जान लिया।

हृदय-परिवर्तन और तेरापन्थ

आज का जमाना लोकतत्र का जमाना है। जहा एकाधिनायकवाद था, वहा भी लोकतत्र की हवा पहुच चुकी है, लोकतत्र का स्वर गुजित हो चुका है। लोकतत्र का पहले सबसे बडा प्रतिनिधित्व कर रहा था ब्रिटेन। वह लोकतन्त्र का प्रवर्तक और सबसे बडा साक्ष्य था। अब वह सेहरा अमेरिका के सिर पर बधा हुआ है। लोकतत्र की सबसे बड़ी चिन्ता करने वाला प्रचारक है अमेरिका। यह आज के राजनीतिक क्षेत्र की एक झलक है।

हृदय परिवर्तन है धर्म

वैचारिक स्वतत्रता लोकतत्र का सबसे बडा आधारभूत तत्त्व है। उसका सबसे बडा प्रवर्तक कोई धर्म सघ है तो वह है तेरापथ। आचार्य भिक्षु ने जिन सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया, उन सबका प्राणतत्त्व है वैचारिक स्वतत्रता या हृदय-परिवर्तन। यदि हृदयपरिवर्तन को छोड दें तो आचार्य भिक्षु का सारा सिद्धात विलुप्त हो जाए। सारे सिद्धातो की आत्मा है हृदय-परिवर्तन। दान, दया, अनुकपा या अहिंसा का विचार करें, साध्य-साधन की शुद्धि का विचार करें चाहे मिथ्यात्व की करणी का विचार करे, सबमे जो सर्वात्मना व्याप्त विचार है, वह है हृदय-परिवर्तन। आचार्य भिक्षु ने कहा--जहा हृदय-परिवर्तन है, वहा धर्म है। जहा बलप्रयोग है, वहा धर्म नही है।

बचाता है आयुष्य कर्म

एक व्यक्ति ने पूछा—एक बच्चा है। वह हृदय परिवर्तन की भाषा को समझता नही है। वह चीटियो को मार रहा है। एक आदमी ने उस बच्चे से वह पत्थर छीन लिया, जिससे वह मार रहा है। उससे क्या हुआ? धर्म हुआ या नही? आचार्य ने कहा—उसके हाथ मे क्या आया? पत्थर ही तो आया? तुम ही सोच लो—इसमे क्या हुआ? चीटिया चाहे बचे पर हुआ क्या?

आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा—तुम कहते हो कि हमने जीव को बचा दिया पर तुम कौन होते हो जीव को बचाने वाले? उसे बचाता है उसका आयुष्य कर्म। आयुष्य कर्म का उदय उसे बचा रहा है और तुम झूठी डींगें हाक रहे हो।

इसी बात को आचार्य भिक्षु ने आगे बढाया—जीव बचा; उससे तुम्हे न कोई धर्म हुआ, न पाप हुआ। तुम्हारा जो मारने का परिणाम है, वह तुम्हारे लिए खतरनाक है और तुम्हारा जो न मारने का परिणाम है, वह तुम्हारे लिए अच्छा है।

इसाई धर्म का सदेश

आज के युग का सर्वोतम विचार माना जाता है—वैचारिक स्वतत्रता। मैंने इसाई धर्म का सिद्धात देखा तो मुझे बडा आश्चर्य हुआ। जो तेरापंथ का सिद्धात है, आज से दो हजार वर्ष पहले इसाई धर्म ने भी इस बात पर बल दिया—बल प्रयोग और हृदय परिवर्तन—दो है। दोनो के द्वारा आदमी काम कर रहा है किन्तु हमे कौन-सा मार्ग अपनाना चहिए ? कार्डिनल गीवस ने एक पुस्तक लिखी—फेथ ऑफ अवर फादर। उसमे लिखा—बल-प्रयोग और हृदय-परिवर्तन—ये दोनो चलते है किन्तु इसाई राजकुमारो और मिशनरियो को बल का प्रयोग नही करना चाहिए और कभी बलपूर्वक किसी को भी अपने धर्म मे नही मिलाना चाहिए। क्योकि महाप्रभु यीशु ने हृदय-परिवर्तन को ही महत्त्व दिया है। कितना साम्य है ! क्या यह भिन्न विचार है ?

हिंसा हृदय को नहीं बदल सकती

आर्क विसेंट ने ब्रिटेन के राजा जेम्स को एक पत्र मे लिखा—'कभी शक्ति के द्वारा किसी का धर्म परिवर्तन मत करना। एक धर्मगुरु के नाते यह मेरा निर्देश है।' क्योकि हृदय तक कोई हिंसा पहुच नही सकती। हिंसा किसी का हृदय बदल नही सकती। विचारो के सदर्भ मे ऐसा लगता है—आचार्य भिक्षु ने जो बात कही, वह शाश्वत स्वर का ही उच्चारण था। यह शाश्वत सचाई है - हृदय को बदले बिना कुछ भी नही हो सकता। बल और शक्ति के आधार पर किसी आदमी को मारा जा सकता है, सताया जा सकता है, उसका उत्पीडन किया जा सकता है पर किसी को आदमी नही बनाया जा सकता।

न्याय आचार्य भिक्षु का पर्याय

तेरापथ धर्मसघ को महान् सिद्धान्त मिले हैं। आचार्य भिक्षु ने स्वय ऐसे प्रयोग किये है, जिनसे हृदय-परिवर्तन और वैचारिक स्वतत्रता को नया आयाम मिला। उनका विवेक जागृत था, विनम्रता अद्भुत थी, सत्य के प्रति अटूट समर्पण था। वे कभी आग्रह मे उलझते नही थे। हृदय-परिवर्तन के साथ यदि अनाग्रह न हो तो हृदय-परिवर्तन सभव नही हो सकता। वैचारिक स्वतत्रता चल ही नही सकती। आचार्य भिक्षु प्रत्येक बात को न्याय, विवेक और युक्ति के साथ प्रस्तुत करते। न्याय तो एक प्रकार से आचार्य भिक्षु का पर्याय ही बन गया।

विभज्यवादी शैली का प्रयोग

यह भी एक तथ्य है—जो हृदय-परिवर्तन का सिद्धांत चलाए, वह क्षमाशील न हो तो विरोधाभास आ जाएगा। हृदय-परिवर्तन के साथ अनाग्रह का होना बहुत जरूरी है। जो विभज्यवादी शैली का आश्रय नही लेता वह हृदय-परिवर्तन की बात करने का अधिकारी नही हो सकता। हृदय परिवर्तन की बात वही कर सकता है जो अनेकान्त, स्याद्वाद और विभज्यवादी शैली का प्रयोग करता हो। आचार्य भिक्षु ने अपने जीवन के प्रत्येक व्यवहार मे, तत्त्वचर्चा के क्षेत्र मे विभज्यवादी शैली का प्रयोग किया। कोई भी बात सामने आई तो उसे विभज्यवादी शैली के प्रयोग से सुलझाने का ही प्रयास किया।

ऋषियों में बीमारी क्यो ?

एक बार हिमालय की तलहटी मे बहुत सारे ऋषि मिले। चर्चा उठी—हम लोग तपस्वी हैं, हिमालय मे रहते हैं, तपस्या, साधना और ब्रह्मचर्य का पालन करते है, बहुत स्वल्प खाते हैं फिर भी हमारे शरीर मे बीमारिया क्यो ? इसका समाधान खोजना चाहिए। बहुत खोजा पर समाधान नहीं मिला। तब निर्णय लिया—समाधान पाने के लिए इन्द्र के पास जाना चाहिए। ऋषियो का समूह भारद्वाज ऋषि को नेता बनाकर स्वर्ग मे इन्द्र के पास गया। वहा समाधान प्राप्त किया। रोग, रोग-हेतु, आरोग्य और आरोग्य हेतु—इन चारो पर पूरा प्रकाश डाला गया, आयुर्वेद बन गया।

आचार्य भिक्षु का समाधान

आचार्य भिक्षु का एक दृष्टात है—एक आदमी ने पत्थर फेंका और सोचा—मेरे सिर पर न गिर जाए। जिसे उछाल दिया, वह तो गिरेगा ही। वह व्यक्ति कहता है—मुझे पत्थर फेकने का त्याग है। जो मुनि बना, उसने सब सावद्य योग का त्याग कर दिया, अब्रह्मचर्य और हिंसा का त्याग कर दिया। पर पहले जो कर्म बधे हैं, उन्हे तो भोगना ही होगा। जो पत्थर फेका गया है, वह तो सिर पर गिरेगा ही। भविष्य मे बीमारी न होने की बात समझ मे आ गई पर पहले जो पत्थर उछाला हुआ है, जो कर्म बधा हुआ है, उसे भोगना ही होगा।

केन्द्र में है हृदय परिवर्तन

ऐसी युक्तिपूर्ण बात तत्काल सोचना भी मुश्किल है। आचार्य भिक्षु की प्रज्ञा जागृत थी। उस प्रज्ञा के द्वारा ऐसा चिन्तन किया, ऐसे सिद्धात और मर्यादाए दी, जो तेरापथ के प्राणतत्त्व बन गए। हम आचार्य भिक्षु को पढ़ें, तेरापथ के मौलिक सिद्धान्तो को सामने रखकर पढे तो शब्द और अर्थ—दोनो समझ मे आ जाएगे। पहले उनके मूल सिद्धातो को समझना होगा कि वे क्या

हैं ? उनकी मूल देन क्या है ? आचार्य भिक्षु ने जो सिद्धान्त दिए, उनमे एक मूल सिद्धान्त है हृदय-परिवर्तन। उन्होने हृदय-परिवर्तन को कैसे समझाया ? कैसे जीवन मे जीया ? केन्द्र मे एक सिद्धान्त है हृदय-परिवर्तन और परिधि मे सैकडो बातें। हम हृदय-परिवर्तन के सिद्धात को हृदयगम करके ही तेरापथ को समझ सकते हैं, आचार्य भिक्षु को समझ सकते हैं।

दान-दया : तब और अब

आचार्य भिक्षु ने अनेक मौलिक स्थापनाए की। उनकी नई स्थापनाओ मे कुछ महत्त्वपूर्ण स्थापनाए ये हैं :—

- दया दान का यथार्थ बोध।
- मिश्र धर्म का अस्वीकार।
- असंयम और संयम की भेदरेखा।
- व्रत और अव्रत का पृथक्करण।
- साध्य और साधन की शुद्धि।

इन स्थापनाओ को लेकर जैन समाज मे काफी ऊहापोह रहा है। ऐसे मे तेरापथ के साथ चूहा-बिल्ली, गायो का बाडा, कुआ-बावडी व भिखारी को भीख जैसे शब्द जुड गए। एक पहचान बन गई-- बिल्ली चूहे को मारे और उसे कोई छुडाए, उसमे पाप होता है -यह है तेरापथ का मन्तव्य। गायो का बाडा जलता हो और गायो को खोल बाहर निकाल दे, उसमे पाप कहते हैं तेरापथी। लगभग डेढ शताब्दी तक ऐसा चलता रहा।

अन्तर्द्वन्द्व

आचार्यवर का चूरू (सवत् १९९९) मे चतुर्मास था। आचार्यश्री के मन मे एक अन्तर्द्वन्द्व था—आचार्य भिक्षु के सिद्धात तो बहुत ऊचे है पर उन्हे प्रस्तुत इस रूप मे किया जा रहा है कि साधारण आदमी भ्रान्त हो रहा है, वह मूल सचाई तक पहुच नही पा रहा है। कारण यही लगा—युग बदल गया पर भाषा नही बदली। सिद्धातो का प्रस्तुतीकरण कैसे हो ? यह प्रक्रिया नही बदली गई, शायद यही एक व्यवधान बन रहा है। सिद्धात जिस स्तर के हो, भाषा भी उसी स्तर की होनी चाहिए। फिर यह निश्चय किया गया—थोडी भाषा बदलनी चाहिए, शैली बदलनी चाहिए। यह काम शुरू किया। सयोग ऐसा मिला—एक ओर 'जैन सिद्धान्त दीपिका' की रचना हो रही थी दूसरी ओर प्रवचनो मे आचार्यवर आचार्य भिक्षु के दया दान की काफी चर्चा कर रहे थे। चूरू, टमकोर, राजगढ आदि क्षेत्रो मे काफी समय तक यह सिलसिला चलता रहा। मैं भी उन दिनो प्रवचन सुनने जाता और उसके नोटस लेता रहता। उसी आधार पर एक पुस्तक भी लिखी—अहिसा और उसके विचारक।'

सिद्धांत दार्शनिक शैली मे

'जैन सिद्धात दीपिका' का एक पूरा अध्याय आचार्य भिक्षु के दृष्टि-कोण पर लिखा गया। उसमे आचार्य भिक्षु के सिद्धातो को दार्शनिक शैली मे चौबीस सूत्रो मे प्रस्तुत किया गया है। भाषा बदलने से तेरापथी साधु-साध्वियो मे यह प्रश्न उभरा—आचार्य तुलसी आचार्य भिक्षु के सिद्धातो को बदल रहे हैं। स्थानकवासी, मूर्तिपूजक आदि जैन समाज के लोगो मे भी प्रतिक्रिया हुई—आचार्य तुलसी ने आचार्य भिक्षु के सिद्धातो को छोड दिया। पहले तेरापथी परोपकार के सिद्धात का निषेध करते थे और अब उसे मानने लग गए हैं। लगभग १०-१२ वर्षों तक यह स्थिति चलती रही। आचार्यश्री बम्बई पधारे। कुछ लोगो ने इस सदर्भ मे बातचीत की। आचार्यवर ने कहा—सिद्धात बदले नही है। सिद्धात वे ही हैं, मूल बात भी वही है।

दान दया

जिसमे सयम नही है, सयम का पोषण नही है, बल प्रयोग या प्रलोभनपूर्वक किसी को बचाए, वह लौकिक दया है, मोक्ष धर्म नही है। दान का सिद्धात भी वैसा का वैसा है—जहा सयम नही है वहा दान निरवद्य नही है। कुछ लोग यह कहने लग गए—बदला कुछ भी नहीं, इसका तात्पर्य है—नई बोतल मे पुरानी शराब। उसी समय बम्बई की एक पत्रिका मे एक लेख भी निकला 'अहिंसा नी अधूरी समझण'—अहिंसा की अधूरी समझ।

बदली है भाषा

आज भी यह स्पष्ट होना चाहिए—इन सवा दो सौ वर्षों मे क्या बदला और क्या नही बदला। हमारा सिद्धात है—ध्रुव कभी बदलता नही। प्रत्येक वस्तु के दो पहलू होते हैं, एक पर्याय का, दूसरा ध्रौव्य का। पर्याय का पहलू बदलता रहता है। भगवती का महत्त्वपूर्ण सूक्त है—जो अस्थिर है, वह बदलता रहता है, जो स्थिर है, वह नही बदलता। आचार्य तुलसी आज भी आचार्य भिक्षु के उन सिद्धातो का दृढता के साथ सम्मान करते है और उन्हे उसी रूप मे स्वीकारते है। आचार्य भिक्षु ने कितने मौलिक सिद्धात दिए। उन्हे बदलने का कोई प्रश्न ही नही उठता। भाषा और युगशैली को अवश्य बदल दिया है। इस रूप मे बदला है, जिससे आज के आदमी को कोई भ्राति न रहे और उसे स्वीकार करने मे कठिनाई न हो।

क्रांतिकारी सिद्धात

आचार्यश्री दिल्ली मे थे। प्रवचन के मध्य आचार्यवर ने कहा—भिखारी को दान देना भिक्षावृत्ति को बढावा देना है, भिखारीपन को बढाना है। कुछ काग्रेसी बोले—आचार्यजी! यह जो आप कर रहे हैं, यह

आज ही कह रहे है या पुराना सिद्धात है ? आचार्यश्री ने कहा—नहीं, यह हमारी दो सौ वर्ष पहले की मान्यता है।

यह तो युगीन बात है। आपने आज तक छुपाया क्यों ? धार्मिक लोग तो बाह्य दान-पुण्य को ही प्रमुख बात बताते हैं।

आचार्यश्री ने कहा—यही तो गलत हो रहा है। अगर भाई मानकर किसी का सहयोग करे तो समाज के विकास को बल मिले। ऐसा करते नही हैं और त्याग-तपस्या भी नही करते। भाई मानकर देने मे पुण्य नही मानते, भिखारी को देने मे पुण्य मानते है। इस प्रकार भिखारीपन को बढ़ावा देना एक सामाजिक अपराध है।

यह बात उनके गले उतर गई। उन्होने कहा—यह कितनी क्रातिकारी सिद्धात है।;

लोकधर्म . सामाजिक आवश्यकताए

आचार्य भिक्षु ने एक सिद्धात दिया था। आचार्यश्री ने कोई नई बात नही कही, उन्ही शब्दो को दोहराया। एक बात जरूर है। मध्यकाल मे आचार्य भिक्षु ने जो कहा, वह भी दोहराया नही गया। केवल प्रतिपादन का थोडा रूप बदल गया। मैने देखा—मध्ययुगीन साधु सीधा पाप कहने से भी कतराते है और ऐसे प्रश्नो को टालना चाहते है। यदि वे इस बात को आचार्य भिक्षु की भाषा मे दोहराते तो शायद ठीक होता। आचार्यश्री ने इतना किया—ये जो सामाजिक काम है, सामाजिक आवश्यकताए हैं, ये सब लोकधर्म हैं, मोक्ष धर्म नही है। अनेक व्यक्तियो ने कहा—भीखणजी तो इसे पाप कहते थे और आचार्यश्री इसे लोकधर्म कहते हैं। मैंने एक पुस्तक लिखी—दया-दान। उसमे भी इस विषय पर लबी चर्चा है। आचार्यश्री वही भाषा बोलते है, जो आचार्य भिक्षु ने बोली थी।

अलग है संसार और मुक्ति का उपकार

आचार्य भिक्षु ने इस सन्दर्भ मे एक स्पष्ट दृष्टिकोण दिया था। प्रसग आया—कोई किसी को भोजन कराता है, वह क्या है ! आचार्य भिक्षु ने कहा—कोई किसो को जिमाता है उसमे मुझे क्या आपत्ति है ? जिमाने मे मुक्ति का धर्म बतलाते हो, इसमे मुझे आपत्ति है। वह ससार का उपकार हो सकता है किन्तु मुक्ति का धर्म नही है। आपत्ति कार्य करने मे नही थी पर उसे मोक्ष का धर्म बतलाया जाए, इस पर उन्हे आपत्ति थी।

आचार्य भिक्षु ने कहा—ससार का उपकार है, उसमे जिनधर्म का अश नही है। उसे तुम लौकिक धर्म भले ही कहो। उनके ये वाक्य प्रसिद्ध है—जो सम्यग् दृष्टि है, वह ससार और मोक्ष के उपकार को अलग अलग जानता है। उनका यह प्रतिपाद्य तेरापथ का आधारभूत सिद्धात है—लौकिक

धर्म और मोक्ष धर्म—दोनो को मिलाओ मत। एक ही क्रिया में धर्म और पाप—ये दोनो बातें एक साथ नही हो सकती। आचार्य भिक्षु ने ऐसे शब्दो का प्रयोग पचासो स्थलो पर किया। आचार्यश्री ने उसी भाषा को आज के परिप्रेक्ष्य मे प्रस्तुत कर दिया। परिणाम यह आया - बडे-बड़े दार्शनिक आचार्य भिक्षु को दार्शनिक स्तर पर समझने लग गए।

अलग है राजनीति और धर्म

ससार मे आज कई तरह की मान्यताए चल रही है। एक मान्यता है—राजनीति और धर्म को, समाज और धर्म को अलग नही किया जा सकता। जैन दर्शन के दिग्गज विद्वान् पडित सुखलालजी भी यह मानने लग गए कि धर्म समाज को धारण करने के लिए है। प्रश्न होता है—यदि वह समाज को धारण करने के लिए है तो फिर उसका बोझ क्यो ढोया जाए? 'धारणात् धर्म उच्यते'—इस व्युत्पत्ति को काम मे लिया गया। इस स्थिति मे राजनीति से धर्म को अलग क्यो माना जाए? धर्म राजनीति का ही एक अग हो गया। ईरान के धार्मिक नेता अयातुल्ला खुमैनी ने लिखा—इस्लाम के अनुसार धर्म और राजनीति को कभी अलग नही किया जा सकता। सिखो का भी यही मानना है—राजनीति को कभी धर्म से अलग नही माना जा सकता। आज इसका परिणाम क्या आ रहा है? एक समस्या पैदा हो गई—धर्म राजनीति मे इतना जुड गया कि धर्म स्वय द्वन्द्वो का अखाडा बन गया। आचार्य भिक्षु के सिद्धात का स्वर रहा—धर्म और राजनीति दो है, एक नही। इन वर्षो मे अनेक प्रमुख राजनेताओ ने भी इस स्वर को दोहराया—धर्म और राजनीति को अलग-अलग करना है।

नए फ्रेम मे मढ़ने का प्रयत्न

इस विचारधारा का मूल स्रोत था आचार्य भिक्षु का सिद्धात—समाज नीति और राजनीति को धर्म के साथ कभी मत जोडो। घी और तम्बाकू को कभी साथ मे मत मिलाओ। दोनो की उपयोगिता अलग-अलग है। समाज की अपनी उपयोगिता है, धर्म की अपनी उपयोगिता है। पचास वर्षों से आचार्यवर आचार्य भिक्षु के सिद्धातो को नये फ्रेम मे मढने का प्रयत्न कर रहे हैं। इसके लिए आचार्यश्री को सहना भी बहुत पडा है। अन्दर और बाहर—दोनो ओर से काफी विरोध झेलना पडा है। धीरे-धीरे यह बात साफ होती चली गई—भाषा बदली है, मूल नही बदला। शायद अब वह स्वर भीतर और बाहर—दोनो ओर से समाप्त हो गया है। आचार्यश्री अगर आचार्य भिक्षु के सिद्धात को दार्शनिक धरातल पर प्रस्तुत नही करते तो बडी कठिनाई हो जाती। आज यह माना जाता है—वस्तु का उतना मूल्य नही होता जितना मूल्य होता है उसकी प्रस्तुति का। यह काम आचार्यश्री तुलसी ने किया। हम

आचार्य भिक्षु के दया-दान सिद्धांत को ले या आचार्य तुलसी के दया-दान सिद्धात को ले, दोनों की आत्मा का प्रदेश एक ही है। हम यह मानें—मूल आत्मप्रदेश तो आचार्य भिक्षु से लेकर आचार्य तुलसी तक एक ही है। उनका वैक्रियकरण या आहारक लब्धिकरण हो गया और लोगो का दृष्टिकोण बदल गया। इसके सिवाय और कुछ खोजेंगे तो कुछ भी नहीं मिलेगा।

तेरापंथ की कुण्डली

योग ऐसा बना—मैं ध्यान की मुद्रा मे बैठा था। अकस्मात् आचार्य भिक्षु के साक्षात्कार का आभास हुआ। मैंने पहला प्रश्न यही पूछा—भते! आपने तेरापथ धर्म की स्थापना की। आपने स्थापना से पहले उसकी जन्म-कुण्डली बना ली थी या स्थापना के बाद उसकी जन्मकुडली बनाई। मेरा यह प्रश्न इसलिए है कि मैंने तेरापथ धर्मसघ की कुडली देखी, ज्योतिषी को दिखायी, उसने बताया—यह जिस सघ की कुडली है, वह कम से कम दो हजार वर्ष की आयु का तो है ही। दो हजार वर्ष तक कोई भी उसका बाल बाका नही कर सकता।

आचार्य भिक्षु बोले—तुमने तो कुण्डली के बारह कोष्ठको मे बैठे ग्रहो को देखा होगा। अब जो कुण्डली मेरे पास है, वह मै तुम्हे बता रहा हू। तुम उसे देखो।

तेरापथ : गुणात्मक कुडली

आचार्य भिक्षु ने मुझे वह कुण्डली दिखाई। मैं उस कुण्डली मे अवस्थित ग्रहो को देख विस्मित रह गया। जन्म कुडली का एक महत्त्वपूर्ण ग्रह होता है सूर्य। तेरापथ की जन्म कुण्डली मे सूर्य बैठा है अनुशासन के घर मे। तेजस्वी सूर्य। बहुत लोग कहते हैं—आचार्यवर से निवेदन तो करना है पर आचार्यश्री के सामने जाने की हिम्मत नही होती। क्या सूर्य के सामने कोई देख सकता है? कोई योगी या साधक ही देख सकता है। हर व्यक्ति सूर्य के सामने देख भी नही सकता, झाक भी नही सकता। दूसरा है चन्द्रमा। वह बैठा है विनम्रता के घर मे। सौम्य, शाति और शीतलता से ओत प्रोत, पूरी विनम्रता से आप्लावित है चन्द्रमा। यह मन को बहुत विनम्र बना रहा है। ज्योतिषी जानते हैं—चन्द्रमा को समझे बिना मन को नही समझा जा सकता। मन की व्याख्या चन्द्रमा के द्वारा कुण्डली मे की जाती है। एक ग्रह है मगल। यह व्यक्ति को चमकाता है। मगल बैठा है आचार के घर मे। मैं यह नही मानता—तेरापथ सगठन के कारण चमकता है किन्तु वह चमकता है आचारनिष्ठा के कारण। आचार न हो, कोरा सगठन हो तो कैसा सगठन होता है? सगठन चोरो और डाकुओ का भी होता है। सगठन वही चमकेगा, जिसकी पृष्ठभूमि मे आचार-निष्ठा होती है। आचार्य भिक्षु ने सबसे पहले आचार को पालने के लिए सगठन

को महत्त्व दिया—'चारित चोखो पालण रो उपाय कीधो छै।' आचार के घर मे मगल बैठा है, जो चमका रहा है। बुध बड़ा महत्त्वपूर्ण है। न्याय-मार्ग के घर मे बुध बैठा है। युक्तियुक्त न्याय, सबको न्याय। धर्म के साथ न्याय, ग्रथो के साथ न्याय। एक ग्रह है वृहस्पति। जिसके भाग्य में वृहस्पति बैठा है, वह चमक जाता है। वृहस्पति बैठा है सविभाग के घर में। तेरापंथ की अपनी विशेषता है सविभाग। एक ग्रह है शुक्र। शुक्र बैठा है समर्पण के घर मे। शनि बैठा है अध्यात्म के घर मे। योग की साधना का विकास करने वाला है शनि। राहु है योगाभ्यास के घर मे। श्रम और तेजस्विता है केतु के घर मे।

नव ग्रह : नव तत्त्व

तेरापथ की जन्म कुडली मे अवस्थित नव ग्रहो मे ये नव महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं।

तेरापथ की जन्म कुण्डली मे
सूर्य बैठा है
अनुशासन के घर मे।
चन्द्रमा बैठा है
विनम्रता के घर मे।
मगल बैठा है
आचार के घर मे।
बुध बैठा है
न्याय के घर मे।
वृहस्पति बैठा है
सविभाग के घर मे।
शुक्र बैठा है
समर्पण के घर मे।
शनि बैठा है
अध्यात्म के घर मे।
राहु बैठा है
योगाभ्यास के घर मे।
केतु बैठा है
श्रम और तेजस्विता के घर मे।

जहा अनुशासन, विनम्रता, आचार, न्याय, सविभाग, समर्पण, अध्यात्म, योगाभ्यास, श्रम और तेजस्विता है, उसका नाम है तेरापथ। तेरापथ की विशिष्टता का रहस्य विभिन्न ग्रहो मे विभिन्न गुणो की अवस्थिति है और वही उसकी शक्तिमत्ता, प्राणवत्ता और दीर्घजीविता का रहस्य है।

मूर्तिपूजा और तेरापंथ

उपासना, भक्ति और स्तुति

उपासना, भक्ति और स्तुति—इन तीनो का साधना के क्षेत्र मे बहुत मूल्य है। अपने इष्ट की भक्ति करना, उपासना और स्तुति करना बहुत पुराने काल से चला आ रहा है। जैन दर्शन भक्तिवादी नही है फिर भी उसमे भक्ति का काफी मूल्य रहा है। बडे-बडे आचार्यों ने भक्ति पर काफी साहित्य लिखा है। तीर्थंकरो की स्तुति की गई। स्तव और स्तुति-साहित्य भी बहुत बना है। उपासना की भी परम्परा रही है। उसी के आधार पर श्रमणोपासक शब्द निर्मित हुआ। उपासना का अर्थ है—समीप बैठना। स्तुति का अर्थ है—गुणो का उत्कीर्तन करना और भक्ति का अर्थ है—उसके प्रति समर्पित हो जाना, एकात्म हो जाना। इन तीनो का मूल्य रहा है। इसी परम्परा मे एक नया आयाम और जुडा, वह है मूर्तिपूजा—प्रतिमापूजा।

आचार-सहिता

हम महावीर युग के श्रावक की आचार-सहिता को देखते है तो उसमे कही भी प्रतिमा की पूजा का कोई विधान नही है। उसमे श्रमण की उपासना का तो निर्देश है। भगवान महावीर चारित्र के प्रधान प्रवक्ता थे। उनकी सारी सहिता आचार और चारित्रपरक सहिता है। मुनि के लिए पाच महाव्रत और श्रावक के लिए बारह व्रत। यह उनकी आचार-सहिता है। इसके अलावा जहा भक्ति का प्रसग है वहा बारह प्रकार की निर्जरा की बात है।

व्रत और तपस्या

महावीर की भाषा मे साधना के दो ही प्रकार है—व्रत और तपस्या। पाच प्रकार के व्रत और बारह प्रकार की तपस्या यानी निर्जरा। उसका विश्लेषण करे तो बारह प्रकार की निर्जरा और पाच प्रकार के व्रतो मे कही भी भक्ति और स्तुति का नाम नही है। बारह प्रकार की जो तपस्या है, उसमे भक्ति और स्तुति का स्थान आ जाता है। विनय हमारा आतरिक तप है। विनय का अर्थ बहुमान भी होता है, अनाशातना भी होता है। विनय का अर्थ गुणोत्कीर्तन भी होता है। पर पूजा जैसी बात न तो बारह प्रकार की तपस्या मे कही है और न पाच महाव्रतो मे ही है। इससे यह स्पष्ट होता है कि भगवान् महावीर के समय मे, जैन परम्परा मे, प्रतिमा-पूजा जैसी कोई बात थी ही नही। न उसके सामने किसी ने प्रतिमा की पूजा की और न

उन्होने ऐसा कोई विधान किया।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विचार करे तो उस समय प्रतिमा का निर्माण भी नही हुआ था। इतिहासकार मानते हैं—प्रतिमापूजा की विधि पहले बौद्धो मे प्रचलित हुई, फिर जैनो ने उसको स्वीकार किया। जैनो मे स्तूप बनाने की विधि थी। चैत्य और स्तूप बनाए जाते थे। जहा मृत व्यक्ति को जलाया जाता उस स्थान पर चबूतरा-सा बनाया जाता। उसका नाम था चैत्य। वह एक स्मारक के रूप मे होता था कि यहा अमुक व्यक्ति का दाह-सस्कार किया गया। उसकी स्मृति मे जो बना दिया जाता, वह चैत्य कहलाता। यह परम्परा पुरानी थी। दूसरी स्थिति आई चैत्य पर पगलिया करने की। चैत्य पर स्मरण-चिह्न स्थापित कर दिए गए। पहला चैत्य और दूसरा उस पर स्मरण-चिह्न। इसके बाद विकास हुआ है प्रतिमा का। प्रतिमा का निर्माण शायद महावीर निर्वाण के दो-चार शताब्दियो बाद शुरू हुआ। ज्यादा प्रतिमाए कुशाण, गुप्त और मौर्यकालीन मिलती हैं। प्रतिमा का प्रचलन हुआ और जैनो ने इसे स्वीकारा भी है।

पूजा का उल्लेख नहीं

प्रश्न है प्रतिमा-पूजा का। प्राचीन आगमो—आचाराग, सूयगडो, भगवती आदि किसी भी अग-आगम मे इसका कही भी उल्लेख नही है। जीवाभिगम, रायपसेणिय आदि मे प्रतिमा का उल्लेख मिलता है। फिर भी बत्तीस आगमो मे पूजा का कही भी उल्लेख नही है। श्रावक की आचार-सहिता मे कही कोई पूजा का विधान नही है। सारा का सारा विधान उत्तर-वर्ती ग्रन्थो मे है। हम निष्कर्ष निकाल सकते है कि यह पहले नही था और बाद मे हुआ है। अब यह स्वीकार करने मे कोई कठिनाई नही है कि विचारो का विकास होता है, दार्शनिक दृष्टियो और आचारशास्त्रीय पद्धतियो का भी विकास होता है। यह जैन परम्परा मे उत्तरकालीन पद्धति का विकास है। यह विकास भगवान के निर्वाण की कई शताब्दियो के बाद हुआ है।

बौद्धो का प्रभाव

कुछ सप्रदायो मे उसे मान्यता दी गई। इसके भी शायद कई कारण रहे होगे। क्योकि आसपास मे जब किसी एक बात को मान्य किया जाता है, उसका प्रभाव बढता है, तब दूसरे के लिए शायद वैसा करना अनिवार्य हो जाता है। उस वक्त जैन और बौद्ध—दोनो आसपास चलने वाली बडी परम्पराए थी। बौद्धो मे प्रतिमा की पूजा का प्रचलन हुआ, इसलिए जैनो ने भी प्रतिमा की पूजा को स्थान दिया। किंतु प्रतिमा पूजा का आज जो रूप है वह रूप नही था। उस समय इतना ही था—प्रतिमा बनाई गई और

उसकी प्रतिष्ठा कर पूजा शुरू हुई। आज के रूप है—गहने पहनाना, स्नान कराना, फूल चढाना आदि आदि। ये रूप पहले नही थे और ऐसा लगता है कि यह वीतराग परम्परा के अनुकूल बात भी नही है।

दिगम्बर परम्परा

जैन समाज मे मूर्तिपूजा करने वाला एक समाज है दिगम्बर समाज। उनमे भी तीन भेद हो जाते हैं—तेरापथी, बीसपथी और तारणपथी। तीनो की अलग-अलग परम्परा है। तेरापथी सचित्त चीज से पूजा नही करते, अचित्त चीज से पूजा करते हैं। फल आदि से पूजा नही करते, चावल आदि से करते है। बीसपथी फल आदि चढाते हैं। तारणपथी तो दोनो प्रकार से ही नही करते। पूजा करते ही नही है।

श्वेताम्बर परम्परा

श्वेताम्बर परम्परा मे स्थानकवासी और तेरापथी—ये दोनो प्रतिमा के पुजारी नही हैं। एक मूर्तिपूजक समाज है और वह हमारी पुरानी परम्परा है। क्योकि स्थानकवासी और तेरापथी—दोनो उसी मे से अलग हुए हैं। उस पुरानी परम्परा का विश्लेषण करें और इस सदर्भ मे हरिभद्र को पढे। चैत्यालय बनाने की यह जो अतिपरम्परा चल पडी थी, उस पर हरिभद्र ने बहुत विनोद किया है। उनका एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है—सबोध प्रकरण। उसके अत मे लिखा है—यह शिर का शूल है। किसके आगे पुकार करू—'अहो सिरसूल कस्स पुक्करिमो।' वह बहुत क्रातिकारी ग्रथ है।

चैत्यवासी : सविग्न पक्ष

चैत्यवासियो ने यह सारी पद्धतिया चालू की। उसके बाद सविग्न पक्ष का जन्म हुआ। चैत्यवासी और सविग्न—ये दो पक्ष बन गए। सविग्न यानी वैराग्य पक्ष। चैत्यवासी एक प्रकार के मठाधीश के रूप मे बन गए थे। जैसे दिगम्बरो मे भट्टारक परम्परा बनी वैसे ही चैत्यवासियो मे राजसी ठाट-बाट से रहना, बडी-बडी जागीरें बनाना आदि चालू हो गया। इन सबका सविग्न पक्ष ने डटकर विरोध किया। सघपट्टक मे जिनवल्लभसूरि ने इसका विशद चित्रण किया है। पार्श्वचन्द्रसूरि आदि आदि ने अपनी आत्म-वेदना प्रगट की है। मूर्तिपूजक परम्परा मे कोई विद्रोह का स्वर नही उठा, ऐसी बात नही है। उसके बाद लोकाशाह ने मूर्तिपूजा को अस्वीकार किया और तेरापथ ने उसी परम्परा का अनुगमन किया।

आचार्य भिक्षु का दृष्टिकोण

आचार्य भिक्षु ने निक्षेप की चौपई मे इसे स्पष्ट किया है कि हम मूर्तिपूजा क्यो नही करते हैं और हमारा सिद्धात क्या है?

नाम थापना दरब तणो, यां तीनां रो कह्यो विसतार।
ए निगुणा भाव रहीत में, कण नहीं रे लिगार ॥
गुण विण नांम निकेवलो, गुण विण थापना आकार।
दरब निखेपो गुण बिनां, ए तीनूं निखेपा असार ॥
तिण कारण मोटो कह्यो, गुण सहीत निखेपो भाव।
च्यारूं निखेपो तिण भाव में, तिणरो विरला जाणे न्याय ॥
भाव निखेपो रूड़ी रीत स्यूं, ओलखजो नर नार।
इण नें ओलखियां बिना जीव रे, घट में घोर अन्धार ॥
जे जे दरब रो नांव छे, नाव जिसा छे गुण तिण माय।
ए भाव निखेपो श्री जिण कह्यो, ते सुणजो चित्त ल्याय ॥

जैन व्याख्या पद्धति का मुख्य शब्द है—निक्षेप। निक्षेप चार हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। इनमे प्रथम तीन असार हैं, पूजनीय नही हैं। पूजनीय है केवल भाव। भाव निक्षेप का अर्थ है—नाम के अनुरूप गुण। यदि गुण नही है तो वह वदनीय, पूजनीय नही होता।

वीतरागता की परम्परा नहीं है

हम फिर अतीत मे लौटे। जब चैत्य का प्रारम्भ हुआ तो एक स्मृति-चिह्न या स्मारक के रूप मे हुआ। जहा स्मारक का प्रश्न है, उसमे आपत्ति की नही जा सकती। किन्तु जब पूजा की पद्धति शुरू हुई तो प्रारम्भ मे उसका रूप थोडा रहा होगा किंतु बाद मे उसका रूप बढा है। यह मानना चाहिए—जैनो ने मूर्तिपूजा को अपनाया है बौद्धो से और उसमे पूजापद्धति का जो विकास हुआ है उस पर वैष्णवो का प्रभाव आया है। जैन तीर्थंकरो की मूर्ति को स्नान कराना, आगी पहनाना, गहने पहनाना, इत्र-फुलेल आदि लगाना—यह कोई वीतरागता की परम्परा नही है। हमारी सारी परम्परा वीतरागता की परम्परा, निर्ग्रन्थता की परम्परा है। जिस तीर्थंकर महावीर ने अपने शरीर पर कपडा भी नही रखा और उसी की गहनो से लदी हुई प्रतिमा और पूजा का यह रूप, आश्चर्य मे डालने वाला है।

पूजा के छह प्रकार

प्रतिमा और पूजा—ये दो बिंदु विमर्शणीय हैं। पहले पूजा पर विचार करे। पूजा की पद्धति जैन परम्परा के सर्वथा अनुकूल नही है। दो शब्द हैं—द्रव्यपूजा और भावपूजा। इनके छह प्रकार किए गए—नामपूजा, स्थापना-पूजा, द्रव्यपूजा, क्षेत्रपूजा, कालपूजा और भावपूजा। ये छह प्रकार दिगम्बर साहित्य मे भी मिलते हैं। कोई खास मतभेद नही है। मतभेद है द्रव्यो के द्वारा की जाने वाली पूजा मे। चावल, फूल, केशर, सुगन्धित द्रव्य, धूप, आरती आदि आदि से की जाने वाली पूजा, प्रक्षालन आदि से की जाने वाली

पूजा । यह है द्रव्यपूजा और यह हमे मान्य नही है । हमारा भावपूजा में कोई मतभेद नही है ।

भावपूजा का अर्थ

भावपूजा का मतलब है—गुणानुस्मरण, गुणो का स्मरण करना । एक व्यक्ति प्रतिमा के सामने बैठकर गुणो का स्मरण करे, इसमे हमारा कोई मतभेद नही । द्रव्यपूजा से हम मतभेद रखते हैं । जितनी द्रव्यपूजा है, इसे हम जैन परम्परा के अनुकूल भी नही मानते और उसके साथ हमारा विचार भी नही जुडता । इसमे हिंसा भी है और परिग्रह भी है । एक मुनि के सामने ये बातें मान्य नही हैं तो तीर्थंकर के सामने ये दोनो बातें हो यह सम्यक् नही लगता । इसलिए द्रव्यपूजा मे हमारी कोई सहमति नही है । न हम करते हैं, न उपासको को करने की प्रेरणा देते हैं और न करने वाले का अनुमोदन करते हैं ।

प्रश्न गुण-पूजा का

दूसरा प्रश्न है—गुणानुपूजा मे नमस्कार करने का । व्यक्ति मूर्ति के सामने खडा है या कही अन्यत्र खडा है, वह वहा भगवान का स्मरण कर हाथ जोडता है । उसमे हमे कोई आपत्ति नही, क्योकि वह भगवान् को हाथ जोड रहा है । तर्क हो सकता है फिर पूजा क्यो नही हो सकती ? भगवान को नमस्कार मान्य है, स्तुति मान्य है किंतु पूजा तो भगवान को भी मान्य नही । कभी भी उसने पूजा कराई नही । महावीर ने हमेशा अपने जीवनकाल मे पूजा का निषेध किया । नमस्कार और स्तुति—यह भावपूजा है । यह स्वीकृत है और द्रव्यपूजा सर्वथा अस्वीकृत ।

प्रश्न प्रतिमा का

एक प्रश्न है प्रतिमा का । प्रतिमा प्रतिमा मात्र है । हम उसे प्रतिबिम्ब मान सकते है । वह भी यथार्थ नही है, काल्पनिक है । न महावीर को किसी ने देखा, न पार्श्वनाथ को देखा, न अन्य तीर्थंकरो को किसी ने देखा । केवल काल्पनिक प्रतिबिम्ब है उनकी प्रतिमाए । प्रतिमा शिल्पशास्त्र के आधार पर बनायी जाती है । शिल्पशास्त्र के विधान के प्रतिकूल प्रतिमा बनाई जाए तो वह दूषित प्रतिमा मानी जाती है । उसकी पूजा करने के परिणाम भी खराब बतलाए जाते है । प्रतिमा का निर्माण उन विद्वानो के शास्त्रो के आधार पर है, जिन्होने सारा निर्धारण किया । प्रतिमा बनाई जाती है फिर उसकी प्रतिष्ठा होती है । जब तक प्रतिष्ठा नही की जाती तब तक प्रतिमा की पूजा नही होती । प्रतिमा मे ये दो बातें प्रमुख होती हैं—गुणारोपण और मत्र-सन्यास । जो प्रतिष्ठा कर ने वाला है, वह प्रतिमा मे गुणो का आरोपण करता चला जाता है । दूसरा है मत्र-सन्यास । एक एक अवयव पर मत्र का सन्यास होता

है। इस सारी विधि से प्रतिष्ठा कर दी जाती है और प्रतिमा को पूजनीय मान लिया जाता है। हम प्रतिमा को प्रतिमा मानते हैं। इसमे हमारा कोई विवाद नहीं है। मतभेद है पूजा मे और हम द्रव्यपूजा को उचित नही मानते।

प्रश्न वंदनीयता का

प्रतिमा से जुडा एक प्रश्न है—वदनीयता का। प्रतिमा वंदनीय है या नही ? नमस्करणीय है या नही ? हमारी वंदना की कसौटी क्या है ? पूरे जैन समाज मे एक कसौटी मान्य रही है **'असजतं न वंदेज्जा'**-असयती की वंदना न की जाए। 'क' 'ख' कोई भी क्यो न हो, यदि वह असयति है तो उसकी वदना न की जाए। वदना सयति की ही की जाए। प्रश्न हुआ—सयति कौन ? जो ज्ञान-दर्शन और चारित्र सपन्न है, वह सयति है। वदनीय होता है सयति और सयति वह होता है, जो ज्ञान-दर्शन-चारित्र सपन्न होता है। जो ज्ञान-दर्शन-चारित्र सपन्न नही है, वह वदनीय नही है। ज्ञान-दर्शन और चारित्र—तीनो ही होने चाहिए। दो क्षण पहले मुनि वदनीय है, दो क्षण बाद प्राणत्याग दिए तो वह वदनीय नहीं है। शरीर वही का वही पडा है, पर अब वह वदनीय नही रहा, क्योकि सयम नही रहा। वदना की कसौटी है सयम। हमारा तर्क यह है कि प्रतिमा मे सयम नही है। प्रतिमा सयत नही है। सयत तो मनुष्य हो सकता है, कोई चेतनावान् हो सकता है। प्रतिमा चेतनावान् नही है। वह चेतनावान् नही है, इसलिए सयत नही है और सयत नही है इसलिए वह वदनीय नही है।

मुनि को वन्दना क्यो ?

प्रतिमा, पूजा और वदना—इन तीनो पर हमने विचार किया। श्वेताम्बर परम्परा मे प्रश्न उठा—जब हम अर्हत् की पूजा करते है, भक्ति करते है तो उसका हेतु क्या बनेगा ? तब समाधान भी किया गया--जैसे अर्हत् हमारे भावो का निमित्त बनता है वैसे ही प्रतिमा भी हमारे वैराग्य और शुभ भावो की निमित्त बन सकती है। पर निमित्त बनने मात्र से कोई वदनीय नही बन जाता। इसके सिवाय कोई तर्क नही होता। इस प्रकरण पर जयाचार्य ने बहुत विस्तार से लिखा है 'प्रश्नोत्तर तत्त्व बोध' मे। वह मननीय है। हम मुनि को वन्दना करते हैं, वह निमित्त के कारण नही करते। किंतु उनको वन्दना अपनी चारित्राराधना के कारण की जाती है। इसलिए यह निमित्त वाली बात भी पूर्णतया गले नही उतरती।

प्रतिमा पूजा का अस्वीकार

निष्कर्ष की भाषा मे कहा जा सकता है--हमने पूजा की विधि को जो अस्वीकार किया, वह न द्वेषवश किया है, न अभिनिवेश और आग्रहवश किया

है। यह हमारी समझ में नही आ सका कि जो चेतनावान् नही है, चेतनावान् होने पर भी जो ज्ञान-दर्शन-चारित्र सम्पन्न नही है, वह हमारे लिए वंदनीय और पूजनीय कैसे हो सकता है ? एक कसौटी हमने स्वीकार कर ली—जो ज्ञान-दर्शन और चारित्र की त्रिवेणी मे निष्णात नही है वह हमारे लिए वदनीय और पूजनीय नही है। उसी आधार पर हमने प्रतिमा की पूजा को अस्वीकार किया है।

विशुद्ध सैद्धान्तिक भूमिका

ऐतिहासिक दष्टि से मदिरो-मूर्तियो का बडा मूल्य रहा है। उनका सास्कृतिक और सामाजिक पक्ष भी है। स्थापत्य कला के पक्ष के कारण इन मूर्तियो और मदिरों ने जैन समाज को आगे रखा है। यह एक सत्य है। रणकपुर की जो वास्तुकला है और आबू की जो शिल्पकला है, वह वास्तव मे अन्यत्र कही नही है। इन दृष्टियो से इसका जो मूल्य रहा है, उसे हम अस्वीकार भी नही कर सकते। मतभेद है वदनीयता के प्रश्न पर। पूजा का धार्मिक और लौकिक दृष्टि से मिश्रण नही होना चाहिए। तेरापथ का यह अभिमत विशुद्ध सैद्धातिक भूमिका पर अवस्थित है।